



नूतन निष्काम पत्रिका

नूतन निष्काम पत्रिका □ वर्ष-6 □ अंक-11 □ मुम्बई □ नवम्बर-2015 □ मूल्य-रु.9/-



महर्षि दयानन्द सरस्वती

जन्म 12 फरवरी 1824-मृत्यु 30 अक्तूबर 1883

न टूटनेवाले व्रत

आचार्य प्रियव्रत

अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा

नक्तं ददृश्रे कुह चिद् दिवेयुः।

अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि

विचाकशच्चन्द्रमा नक्तमेति ॥१०॥

अर्थ-(अमी) ये (ये) जो (उच्चा) ऊपर आकाश में (निहितासः) स्थापित किये हुए (ऋक्षाः) नक्षत्र हैं, वे (नक्तम्) रात्रि के समय तो (ददृश्रे) दिखाई देते हैं, परन्तु (दिव) दिन के समय (कुहचित्) कहीं (ईयुः) चले जाते हैं? (वरुणस्य) वरुण भगवान् के (व्रतानि) नियम (अदब्धानि) तोड़े जानेवाले नहीं हैं (चन्द्रमाः) चन्द्रमा (नक्तम्) रात्रि के समय (विचाकशत्) खूब चमकता हुआ (एति) चलता है।

भगवान् की महिमा का वर्णन करते हुए गत मन्त्र में भगवान् को हमारे दुःख और क्लेशों को दूर करने की शक्ति तथा पाप से बचने में हमें सहायता करने की शक्ति का वर्णन किया गया था। प्रस्तुत मन्त्र में भगवान् की महिमा का एक और प्रकार से वर्णन किया जाता है।

देखो, इस नभोमण्डल की ओर देखो। रात के समय इस की कैसी अपूर्व आभा होती है। दिन का प्रकाश ओझल होने की देर होती है, जहाँ वह गया और रात्रि ने धरती पर पर्दापण किया, बस, नभोमण्डल तत्काल झिलमिलाते हुए नक्षत्रों के रूप में जाज्वल्यमान शुभ्रकान्तिवाले मोतियों के लाखों हार अपने वक्षःस्थल पर पहनकर हमें निहारने लगता है। नभोमण्डल की उस काल की कान्ति को जितना ही देखा जाता है, वह उतनी ही बढ़ती जाती है और उसको उतना ही और देखते रहने को जी चाहता है। उस समय गगन के विशाल वक्ष पर चमक रहे एक-एक नक्षत्र की झिलमिलाहट चित्त को बाँध लेने और व्यामोहित कर देने की अद्भुत शक्ति रखती है। उस समय आकाश अपने में से मूर्तिमान् सौन्दर्य को उगल रहा होता है और जिन रातों में नक्षत्रमाला के बीच में चन्द्रमा भी अपनी अमृतमयी ज्योत्स्ना के साथ आ विराजता है, आकाश की उन रातों की छवि तो और भी मोहक हो जाती है। उस समय का चन्द्रिकास्नात नभोमण्डल दूध की-सी वर्षा करने लगता है, जिसमें सारा विश्व आप्लावित हो जाता है। उस समय के तारे दुग्धसमूह में तैर रही बुद्बुदावली-सी प्रतीत होते हैं। चन्द्रिका के साथ उस समय सर्व-सन्तापहारी अमृत के झरने सब ओर प्रवाहित होने लगते हैं। उस समय शान्ति, शुभ्रता, अमृत और सौन्दर्य के समुद्र के बाँध टूट जाते हैं और वह सब ओर निर्बाध होकर बह पड़ता है। उस समय के नभोमण्डल का वह मुग्ध सौन्दर्य तो केवल निर्निमेष नेत्रों से पीने का विषय होता है। उस समय के गगन-मण्डल में यह दिव्य छटा कौन भरता है? वही वरुण-वरण करने योग्य, शोभा का परम निधान वही देवाधिदेव।

रात्रि के अनन्तर फिर दिन का समय आता है और दिन के प्रकाश के धरती पर आते ही न जाने रात के समय की आकाश की सब शोभा कहाँ चली जाती है। रात के समय नभोमण्डल जो नक्षत्रों की सहस्रों से धरती को निहार रहा होता है, वह उसका निहारना दिन के आते ही न जाने कहाँ छिप जाता है। उस समय आकाश अपने झिलमिलाते हुए नक्षत्रों के हारों को न जाने कहाँ उतार फेंकता है। रात के समय नभोमण्डल की छाती पर बैठकर

हँसनेवाले ये लाखों तारे दिन के समय न जाने कहाँ जा बैठते हैं। दिन के समय तो तेज और प्रताप का पुञ्ज सूर्य सारे आकाशमण्डल पर अधिकार कर लेता है। उस समय चन्द्र की मृदुलतामयी ज्योत्स्ना के स्थान पर आकाश से उद्गम प्रकाश और दाहक ताप बरसने लगता है। रात्रि की सुकुमारता को दिन की उग्रता आ दबाती है। रात्रि समय के सोमतत्त्व को दिन का अग्नितत्त्व हड़प जाता है।

समय फिर फेर खाता है। दिन का अन्त होता है। उसका स्थान फिर रात्रि ले-लेती है। नभोमण्डल में फिर वही पुरानी नक्षत्र-मालावेष्टित चन्द्रमा की सुकुमार छवि छिटकने लगती है।

ये सब अद्भुत परिवर्तन थोड़े समय के पश्चात् कैसे होते रहते हैं? इन सब परिवर्तनों के कारण हैं भगवान् वरुण के अदब्ध व्रत-उस वरणीय देव के कभी न टूटनेवाले नियम-भगवान् ने सारे विश्व और उसके सब पदार्थों को नियमों की शृङ्खला में बाँध रखा है। उन नियमों के अनुसार चलते हुए ये सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र समय-समय पर आकर अपनी-अपनी आभा दिखाते रहते हैं। भगवान् के ये नियम अटूट हैं, इसलिए लाखों-करोड़ों वर्षों से ये सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र इसी भाँति थोड़े-थोड़े समय के अनन्तर आकर अपनी-अपनी छवि दिखाते रहते हैं और प्रलयकाल तक इसी प्रकार करते रहेंगे।

सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रों के व्यवहार में दिखाई देनेवाले ये नियम तो उदाहरणमात्र हैं- खाली नमूना हैं। विश्व-ब्रह्माण्ड में सर्वत्र प्रभु के नियमों की सेना जागरूक होकर अपना कार्य कर रही है। भगवान् ने जहाँ भौतिक जगत् के नियम बना रखे हैं, वहाँ मानसिक और आत्मिक जगत् के नियम भी बना रखे हैं। सूर्य आदि जड़ पदार्थ तो भगवान् के बाँधे नियमों पर सतत चलते रहते हैं, परन्तु मनुष्य स्वतन्त्र इच्छा और क्रियाशक्तिवाला है। वह अपनी स्वतन्त्रता से बहुत बार भगवान् के बाँधे वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के नियमों को तोड़ता रहता है। इन नियमों का तोड़ना ही पाप है और इस पाप का फल हमें दुःख भोगना पड़ता है। भगवान् के नियम तो मनुष्य के जीवन को सुखमय बनाने के लिए बाँधे गये हैं, इसलिए उनके भङ्ग से दुःख का भोगना अवश्यम्भावी है। जिस प्रकार नियमों में बाँधकर चलने से सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रों के जीवन में एक अद्भुत शोभा आ जाती है, उसी प्रकार यदि मनुष्य भी अपने जीवन के वैयक्तिक और सामाजिक नियमों का पालन करेगा तो उसके जीवन में भी शोभा आ जाएगी- उसका जीवन भी कान्तिमय, सुखमय और आनन्दमय बन जाएगा।

गत मन्त्र में भगवान् की कृपा प्राप्त करने के लिए पाप से दूर रहने की ओर निर्देश किया गया था। प्रस्तुत मन्त्र में भगवान् के अदब्ध व्रतों की ओर संकेत करके प्रकारान्तर से यह बता दिया गया है कि पाप से बचने का उपाय वरुण भगवान् द्वारा निर्धारित किये हुए जीवन के वैयक्तिक और सामाजिक नियमों का पालन करना है।

पाप से बचने और मङ्गल प्राप्त करने के अभिलाषी हे मेरे आत्मन्! भगवान् के बाँधे हुए जीवन के नियमों का नियमित रीति से पालन करते रहो, तुम पवित्र हो जाओगे और तुमपर भगवान् की कृपा बरसने लग पड़ेगी।

आर्य समाज सांताक्रुज़, मुम्बई का मासिक मुखपत्र
वर्ष : ६ अंक ११ (नवम्बर - २०१५)

- दयानंदाब्द : १९२, विक्रम सम्वत् : २०७३
- सृष्टि सम्वत् : १,९६,०८,५३,११६

प्रबन्ध संपादक : चन्द्रगुप्त आर्य

संपादक : संगीत आर्य

सह संपादक : संदीप आर्य

कार्यकारी संपादक : विनोद कुमार शास्त्री

लालचन्द आर्य, रमेश आर्य,
यशबाला गुप्ता.

विज्ञापन की दरें : शुल्क

- पूरा पृष्ठ : रु. ३,०००/- • एक प्रति : रु. ९/-
- १/२ पृष्ठ : रु. २,०००/- • वार्षिक : रु. १००/-
- १/४ पृष्ठ : रु. १,५००/- • आजीवन : रु. १०००/-
- विशेषांक की दरें भिन्न होंगी।

वर्गीकृत विज्ञापन

रु. १०/- प्रति शब्द, न्यूनतम रु. ५००/-

चैक/डीडी/मनी आर्डर आदि 'आर्य समाज सांताक्रुज़' के नाम से ही भेजें, मुंबई के बाहर के चैक न भेजे। विज्ञापन सामग्री १० तारीख तक भेजें। 'नूतन निष्काम पत्रिका' का मुद्रण ऑफसेट विधि से होता है।

पता : आर्य समाज सांताक्रुज़

(विठ्ठलभाई पटेल मार्ग) लिंकिंग रोड, सांताक्रुज़ (प.),
मुंबई-५४. फोन : २६६० २८००, २६६० २०७५

अनुक्रमणिका	पृष्ठ सं.
न टूटनेवाले व्रत	२
सम्पादकीय	३
The Destiny (Bhagya)	४
"महर्षि दयानन्द तीनों ऐषणाओं से परे थे"	५
विचार शक्ति का चमत्कार/कविता	६
महर्षि दयानन्द जी अपने सत्य ज्ञान दीप से करोड़ों..	७
मुर्दे को गाड़ने तथा जलाने की तुलना	८
अदृश्य भी दीखता है	९-११
क्यों उदास बैठे हैं	११
ईश्वर का संकल्प	१२-१४
चाणक्यनीति	१४-१६

सम्पादकीय

वैदिक संस्कृति

महर्षि दयानन्द सरस्वती की महति कृपा से हम वैदिक धर्म के मार्ग पर आज चल रहे हैं। महर्षि ने हमें स्मरण कराया कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है। उन्होंने हमें स्मरण कराया कि सृष्टि के आरम्भ में पुण्य आत्माओं के हृदय में ईश्वर ने यह वेद ज्ञान दिया जिसे चिन्तन-मनन करके उनके मुख से जो शब्द निकले वे वेद मन्त्र कहलाये। इन्हीं वेदों के ज्ञान पर मानव जीवन आधारित था। आरम्भ में धर्म एक ही था और वह था वैदिक धर्म। वेदों में निराकर ईश्वर का वर्णन है। वेदों में यज्ञ का विधान है। वेदों में राष्ट्र किस तरह सजग रहें इसका विधान है। वेदों में मनुष्यों के जीने का तरीका लिखा है। ज्ञान कर्म उपासना का वर्णन वेदों में है। अथर्ववेद में औषधीय चिकित्सा का वर्णन है। यही वैदिक संस्कृति है। इसी संस्कृति में समय के साथ - हास होता गया। मूल से हम भूल की तरफ जाने लगे। ईश्वर के गुण कर्म स्वभावानुसार नामों को लेकर समुदाय ने अपने अपने तरीके से ईश्वर की व्याख्या शुरू कर दी और उसी रूप में उसे पूजने लगे। समय के साथ साथ चूंकि मूल से हम दूर जा चुके थे, इसी से मूर्तिपूजा भी आरम्भ हो गयी। भगवान की मूर्तियों के मूल में भी कहीं न कहीं हमें ईश्वर के नाम का अपभ्रंश ही दिखेगा। इन पूजा पद्धतियों में भी हमें कहीं न कहीं वैदिक संस्कृति से विमुख होती प्रथा ही दिखायी देती है। वैदिक ज्ञान का स्वाध्याय न कर पाने के कारण हम मूल वैदिक संस्कृति से काफी दूर चले आये हैं। आज तो न जाने कितने भगवान, सम्प्रदाय, गुरुडम, पाखण्ड ईश्वर के नाम पर पनपते जा रहे हैं कि जिनका हिसाब रखना भी कठिन है। जबकि महर्षि दयानन्द सरस्वती ने हमें निराकार ईश्वर की पूजा, कर्मकाण्ड के साथ साथ यज्ञमय जीवन जीने की प्रेरणा दी थी।

वर्तमान में राष्ट्र में संस्कृति को लेकर यदा कदा बहस छिड़ती रहती है। संस्कृति के नाम पर प्रवक्ता वैदिक ज्ञान से अनभिज्ञ होने के कारण आधारहीन तर्क कुतर्क कर रहे हैं। वैदिक संस्कृति के शास्त्रों में प्रमाण मिल जायेंगे किन्तु इसकी बजाय हिन्दू संस्कृति की विवेचना करते हुए जो तर्क आज दिये जा रहे हैं उन्हें यदि वैदिक संस्कृति के रूप में रखा जाये तो बात तर्क पूर्ण बन जाती है। वास्तव में आज हमें प्रचारित यह करना चाहिए कि हमारी वैदिक संस्कृति जिसे आज हम हिन्दू संस्कृति कह रहे हैं सबको समाहित करती है क्योंकि ईश्वरीय ज्ञान वेद से ही संस्कृति आगे बढ़ी है। उसी में अपभ्रंस होते होते अलग अलग मत बनते गये। आज आवश्यकता है कि आर्य समाज का एक प्रभावी मन्त्र बनाया जाये जिसमें राष्ट्र में चल रहे अंतर्गत विवाद को सही दिशा दी जा सके। संगठन से जुड़े एवं राष्ट्र के उच्च पदों पर आसीन विद्वानों/नेताओं/कार्यकर्ताओं की आज एक राष्ट्रीय बैठक की आवश्यकता है जिससे हम वर्तमान में राष्ट्र में पैदा हुई ऊहापोह की स्थिति को हम सबको मूल वैदिक संस्कृति के ज्ञान से शांति प्रदान कर सकें एवं यह राष्ट्र सही मायने में सबको साथ लेकर समग्र उन्नति को प्राप्त कर सके।

The Destiny (Bhagya)

Ram Niwas Arya, Mumbai
022-2643 4046/9819777491

The destiny/fate/fortune/luck/lot (bhaagya / kismet/ naseeb in Hindi) is used every day, interchangeably by people of various faiths. We also come across with many fortune-tellers / astrologers, who say that the good or bad luck is due to the position of stars at the time of one's birth. We also hear people saying, 'What is lotted cannot be blotted' i.e. the writ of the destiny cannot be undone. Now the question arises, **What is Luck? How it affects us? Can it be changed? If yes, in what way?**

Man is independent to act the way he/she likes but the fruits or the outcome depends upon intention and dedication etc., during the performance of his/her actions. Action means to do something which is the key to life on this earth. Inaction or indolence can also be termed as action. Evil-deeds/misdeeds and good / righteous / virtuous deeds-both are actions. Then we have actions with attachments (inspired by humanly desires) and actions without attachments (free of desires). Hence, to acquire the working knowledge of actions i.e. what to do and what not to do, including their consequences, **one has to seek the help of Vedas** (the storehouse of God's eternal Knowledge), **scholars & the literature composed by them and the writings of the Rishis/Sages**. So, one should act only after due contemplation & deliberations coupled with extreme devotion & analysis. The only shortcut is - to emulate the lives of noble souls like Ram, Krishna and Dayanand etc. of course, with proper thinking & reflection as 'to err is human.'

All our deeds from previous births get accumulated as 'Sanchit Karmas of Accumulated Deeds' held in reserve for retribution. The retribution in the form of rewards (fortune or good luck) for good deeds and punishments (bad luck or misfortune) for bad deeds from God - the Judge of judges, as per His eternal laws, is known as 'Prarabdh' the luck or the destiny. However, it is not only difficult but impossible to know when, where, how and in what form a reward or punishment will come to him/her.

In science, Newton's 3rd law of motion states, 'Actions and Reactions are equal and opposite.' But some reactions are instantaneous (e.g. touching an ice cube or a hot utensil, hammering the hot iron, an external injury) and some are delayed (e.g. blood clots, blisters, fruits on a tree, internal injury); while others are not only delayed but may not even be seen or felt in this birth (e.g. exposure to radioactivity).

Similarly, human action vis-a-vis rewards or punishments by the Almighty also fall in these three groups. The first two doesn't need much explanation (e.g. a thief getting beaten up when caught while stealing something and a murderer being awarded a sentence after a trial in a court of law). Third one can easily be seen in the form of various species and children taking birth every moment with various handicaps & also with extra intelligence coupled with comfortable surroundings. We also see people performing good deeds but suffering in many ways, while others indulged in evil activities still appear to be enjoying worldly comforts. Natural question is, why so?

The answer lies in the 'Vedic Philosophy of Action' : according to which none can escape the after-effects of one's actions. Visits to places of worship like temples, mosques, churches or a dip in the holy Ganges will never condone one's wrong doings (Such Visits, if performed with positive intentions to improve oneself may offer peace of mind and help him/her to do better in future.) Man seeks pardon only to find solace for oneself due to the curtain of ignorance or dirt of worldly desires accumulated over one's mind or a combination of both. In fact, such beliefs make people more dependent on luck rather than efforts. Reality is that man is the maker of his/her destiny as it directly depends on one's action only. The deeds committed by us but not fructified yet (adds up as our Accumulated Deeds), are given back to us in the form of Life state, Life period and pleasures & pains or sufferings in the form of Life experience (Jaati-Aayu-Bhog) of various species and man sits on the top of this ladder. As an acacia tree can never give us mangoes or grapes, similarly results of bad deeds can never be desirable ones. So, the seeds of one's actions result in the ripened crop of providence. Yes! If one's accumulated deeds from his/her previous births have a positive balance and then he/she would be rewarded appropriately, but if the balance is negative it would definitely result in punishments. But, remember one thing for sure that one will get the rewards for good deeds and the punishments for the bad ones separately which can be observed very clearly in our daily life.

To conclude I would say, none can escape the rewards or punishments awarded by the God - The Supreme Judge for his/her 'Accumulated Deeds' till this moment. But, the human birth is a chance given by the Almighty to the soul to improve. Even if one starts with a handicap of non-congenial surroundings and lack of opportunities with many challenges, he/she can still move forward by his/her constant right efforts. On the other hand, one born in intellectual atmosphere and with better scopes (the benefits of previous births) might fritter away this chance by evil-deeds and carelessness. So, one can change one's luck for the better or for the worse i.e. can make or may one's destiny (from this moment onward) by adopting a right or wrong path which will increase the positive or negative balance of his/her good or bad deeds respectively.

But to succeed, one must be guided by the Vedic hymn 'Om krato Smar (Yaju-40/15)' (i.e.o' industrious man! Always remember the Creator, His Creation and Your Actions (along with their consequences while doing anything right or wrong). to have an unflinching faith in God and follow His dictates in Thought, Speech & Action by acquiring the true knowledge.

'One's 'Prarabdh' - the luck or the destiny and his/her Efforts in the form of positive or negative i.e. good or bad deeds go hand in hand in making the future of every one on this globe' (The wise people have said that 'Takdeer' and 'Tadbeer' go together.)

“महर्षि दयानन्द तीनों ऐषणाओं से परे थे”

ऐषणाएँ यानि इच्छाएँ जिनसे मनुष्य बन्धा हुआ रहता है। ये तीन प्रकार की होती है। (१) वितैषणा (२) पुत्रैषणा (३) लोकैषणा। इन तीनों ऐषणाओं ने महर्षि दयानन्द को छुआ तक नहीं था, जबकि इन तीनों ऐषणाओं से सभी मनुष्य लिप्त रहते हैं। इन्हीं की प्राप्ति में मनुष्य अपना पूरा जीवन समाप्त कर देता है, फिर भी ये ऐषणाएँ पूर्ण नहीं होती। मनुष्य अपनी ऐषणाओं को प्राप्त करने के लिए जितना अधिक प्रयत्न करता है और इन को कुछ सीमा तक प्राप्त भी करता है, परन्तु इनकी प्राप्ति से मनुष्यकी भूख कभी नहीं मिटती बल्कि भूख और अधिक बढ़ती जाती है।

इसलिए ऐषणाओं की प्राप्ति करना मनुष्य के लिए सुख का साधन नहीं बल्कि दुःख का कारण है। इसीलिए यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के प्रथम मन्त्र में कहा है:-

तेन-त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम अर्थात् इस संसार का त्याग भाव से भोग करो यानि इसमें लिप्त नहीं/लालच न करो/यह धन किसी का नहीं है यानि ईश्वर का है। महर्षि दयानन्द का जीवन इस वेद-मन्त्र, के अनुसार/ उनको किसी प्रकार का आकर्षण बान्ध नहीं सकता था। महर्षि का अपने मन के ऊपर पूरा अधिकार था/ इसलिए स्वामी जी मन को जिधर ले जाना चाहते थे मन उसी तरफ चलता था। मन पर पूरा नियन्त्रण रखनेवाला व्यक्ति ही अपने जीवन में सफल हो सकता है। महर्षि के अपने जीवन में सफल होने का सब से बड़ा कारण यही था कि उनका अपने मन के ऊपर पूरा नियन्त्रण था इसीलिए उनका इन तीनों ऐषणाओं पर पूरा अधिकार था। वे इमें लिप्त नहीं थे। इसका संक्षिप्त विवरण इसी भांति है।

१-वितैषणा:- महर्षि जी के पिता कर्षणजी तिवारी एक अच्छे जर्मीदार थे, रुपयों का लेन-देन भी करते थे और मोरवी राज्य की तरफ से इनको काफी अधिकार मिले हुए थे। वे एक अच्छे सत्ताधारी थे और प्रबन्ध को बनाए रखने के लिए वे कुछ सैनिकों को भी अपने पास रखते थे। इस प्रकार स्वामी जी एक अच्छे धनाढ्य परिवार में पैदा हुए थे और अपने माता-पिता की पहली सन्तान होने से काफी लाडल-चाव में उनका जीवन बीता था। पैसे की उनके पास कोई कमी नहीं थी फिर भी वे सच्चे शिव की खोज तथा मृत्यु के रहस्य को जानने के लिए नौजवानी काल में ही केवल २२ वर्ष की आयु में अपने घर को छोड़ दिया और देश को अज्ञान, अंधविश्वास व पाखण्डों से मुक्ति दिलाने के लिए अनेक दुःखों व कष्टों को सहते हुए देश के चारों कोणों में भ्रमण किया और अपने जीवन में भी कितने ही अवसरों पर उन्हें लोभ व लालच दिया गया, पर उस लंगोटधारी संन्यासी ने अपने सिद्धान्तों पर अटल रहने के लिए इन लालच व प्रलोभनों को ठुकरा दिया और असत्य से कभी समझौता नहीं किया। वैसे तो उनके जीवन में ऐसी अनेकों घटनाएँ आती हैं। पर यहाँ पर केवल दो घटनाओं को लिख देना पर्याप्त समझता हूँ। (१) महर्षि जी अपने जीवन के अन्तिम दिनों में यह सोचकर कि साधारण व्यक्तियों को समझाने की वजाय मुझे राजा-महाराजों से मिलकर उन्हें वैदिक धर्म की बातें समझानी चाहिए ताकि वेद प्रचार का कार्य तथा परोपकारी कार्य अधिक मात्रा में किये जा सकें। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्वामी जी उदयपुर के महाराजा सज्जनसिंह के पास पहुंचे। महाराज स्वामी जी से बहुत अधिक प्रभावित हुए और उनको अपना

गुरु मान कर वेद पढ़ने लगे। एक दिन महाराजा ने कहा कि स्वामी जी आप केवल मूर्ति पूजा का विरोध न करें बाकी सब काम आप अपनी इच्छानुसार करते रहें तो मैं आपको एकलिंग महादेव के मन्दिर का महन्त बना दूँगा। जिसमें वार्षिक लाखों रूपयों की आमदनी है, आप अपनी जिन्दगी आराम से काट सकोगे। स्वामी जी ने महन्त बनने से इन्कार कर दिया, तब महाराज सज्जनसिंहने कहा कि, स्वामी जी आपको मालुम है कि आप किससे बातें कर रहे हो, तब स्वामी जी ने कहा कि मुझे मालुम है कि मैं किससे बातें कर रहा हूँ, राजन्! आपकी आज्ञा का मैं उल्लंघन करूँ तो मैं अभी दौड़ लगाकर आपके राज्य की सीमा से निकलना चाहूँ तो रात भर में निकल सकता हूँ परन्तु उस परम पिता परमात्माकी आज्ञा का उल्लंघन करूँ तो उसके राज्य से बाहर कभी नहीं निकल सकता, इसलिए आप ही बतावें कि मैं आपकी आज्ञा मानूँ या ईश्वरकी आज्ञा, तब महाराजा ने कहा कि स्वामी जी आपको इतना बड़ा पद कोई नहीं दे सकता, आप विचार करें कि आपको क्या करना चाहिए, तब स्वामी जी ने कहा कि राजन्! यह सही है, कि मुझे इतना बड़ा पद देनेवाला कोई नहीं मिलेगा तो आपको भी इतने बड़े पद को ठुकरानेवाला भी कोई नहीं मिलेगा। इस उत्तरों से महाराजा बहुत खुश हुए और स्वामी जी से क्षमा प्रार्थना करने लगे। यह था स्वामी जी का वितैषणा के प्रति विरोधी भाव। दूसरी घटना यह है कि स्वामी जी जब उतराखण्ड का भ्रमण कर रहे थे तब वे जोशी मठ पहुँचे/जोशीमठ का महन्त स्वामी जी के आकर्षक शरीर, बल, बुद्धि, विद्या से बहुत प्रभावित हुए और स्वामी जी से कहा कि आप इस मठ के महन्त बन जाओ, मैं संन्यासी बनना चाहता हूँ, तब स्वामी जी ने कहा कि महन्त जी, मैंने पिता जी की करोड़ों की सम्पत्ति को ही ठोकर मार दी तो आपकी सम्पत्ति का महत्व ही क्या है। मैं तो किसी बड़े उद्देश्य के लिए ही घूम रहा हूँ, मुझे आपके मठ का महन्त नहीं बनता, यह कहकर आगे निकल गये। यह थी स्वामी जी की वितैषणा के प्रति उदाशीलता।

२- पुत्रैषणा :- पुत्रैषणा होने का तो प्रश्न ही नहीं है। यदि पुत्रैषणा होती तो विवाह ही करवालेतो जब स्वामी जी के माता-पिता को यह ज्ञान हो गया कि मूल शंकर जी (स्वामी जी का बचपन का नाम था) में कुछ बैराग्य के भाव आये हुए हैं, इसलिए विवाह कर देना चाहिए और विवाह की तैयारी भी करने लगे। जब मूलशंकर को यह जानकारी हो गई कि तुम्हारे विवाह की तैयारी हो रही है, तब उसने माता-पिता को साफ कह दिया कि मैं विवाह नहीं कराऊँगा। छोटी बहन और चाचा जी मृत्यु के बाद, मूलशंकर का बैराग्य और भी बढ़ गया था। बाईस वर्ष की भरी जवानी में उसने गृह-त्याग कर दिया। जीवन भर पूर्ण ब्रह्मचारी रहकर अपना उद्देश्य शिवकी खोज में पूरे जीवन की आहुति दे दी। इससे साफ सिद्ध होता है कि स्वामी की विवाह करवाने की बिल्कुल ही इच्छा नहीं थी। तब पुत्रैषणा होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। स्वामी जी के जीवन में एक घटना आती है कि एक बहुत सुन्दर औरत ने स्वामी जी से कहा कि स्वामी जी मैं आप जैसा सुन्दर पुत्र चाहती हूँ, तब स्वामी जी ने कहा, माताजी ! मैं तो आपका ही पुत्र हूँ, आप मुझे ही अपना पुत्र समझें। इससे बड़ा उदाहरण पुत्रैषणा न होने का और क्या हो सकता है?

३- लोकैषणा:- महर्षि का जीवन पढ़ने से ज्ञात होता है कि स्वामी जी ने कितने ही बहादुरी के काम किये। जैसे चार घोड़ों की बगगी को पीछे से पकड़कर रोक लेना, लड़ते हुए दो खूँखार साण्डों के सींग पकड़ कर अलग-अलग कर देना। कर्ण सिंह जैसे बलशाली की तलवार पकड़ कर दो टुकड़े कर देना। अपने प्राण बचाने के लिए कितनों को पछाड़कर फिर ऊँची दिवार को फलांग कर अपने प्राणों की रक्षा करना आदि अनेक घटनाएँ हैं, परन्तु स्वामी जी ने कभी भी अभिमान भरी बात नहीं कही और अपराधी को सदैव सजा न देकर क्षमा दान ही दिया। इससे उनकी निरभिमानता, विनम्रता, दयालुता आदि गुण स्पष्ट प्रकट होते हैं। जो व्यक्ति निरभिमानी विनम्र, दयालु व परोपकारी होता है, वह कभी भी यश का भूखा नहीं होता। इसलिए महर्षि दयानन्द में लोकैषणा नाम-मात्र भी नहीं थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महर्षि जी ने इन तीनों ऐषणाओं पर विजय प्राप्त कर रखी थी।

खुशहाल चन्द्र आर्य

१८० महात्मा गान्धी रोड, कोलकता - ७००००७.

मो. ९८३०१३५७९४

विचार शक्ति का चमत्कार

(विश्वास, संतोष व अलगाव स्थिरता देते हैं।)

विश्वास स्वयं में ऐसी शक्ति है जो कि स्वभाविक रूप से स्थित शक्तियों को चलायमान करती है। यह अच्छे विचार करने की शक्तियों का विकास करने की शक्ति है। हम अच्छे कर्म क्यों करें या बुरे विचारों से क्यों बचे इसका एक मात्र उत्तर है विश्वास, जहाँ से विश्वास समाप्त होता है वही से विपरित विचार प्रारम्भ हो जाते हैं। लेकिन इसका तर्क की कसौटी पर खरा उतरना बहुत ही आवश्यक है। जिससे मनुष्य का जीवन नई ऊँचाइयों को प्राप्त कर सकता है।

संतोष स्थिरता की पूंजी है व असंतोष भटकाव का कारण है। जीवन में हम बेशक नित्य उन्नति का प्रयास करते रहें लेकिन हर अवस्था में संतोष का प्राप्त होना बहुत जरूरी है। असंतोष से मनुष्य की वर्तमान स्थिति का भी खो जाने का भय निरंतर बना रहता है।

जीवन में हमें जो कुछ भी प्राप्त है, अच्छा या बुरा, सुख या दुःख अलगाव होना अत्यंत आवश्यक है अन्यथा जो विचार दिमाग में ही लगे रहते हैं वे विकृति उत्पन्न होने का कारण बन जाते हैं। एक बार प्रयास करने के पश्चात छोड़ देना चाहिए, उसके बाद हमारा अर्धचेतन मन जो सोचे वो करने लगता है। कई बार हम जीवन में देखते हैं कि अथक प्रयास करने के बावजूद हमारा कार्य नहीं बन पा रहा होता है उस अवस्था में हम उसे छोड़ देते हैं कि “अब जाने दीजिए जो होगा वह देखा जाएगा।” तब कुछ संयम के बाद हमें अचानक लगने लगता है कि हमारा कार्य बनना प्रारम्भ हो चुका है।

मित्रों, उपलब्ध विचार हमारे अर्धचेतन मन द्वारा विचारों की किस तरह व्यापक रूप मिल सकता है। उस सिद्धांत पर आधारित हैं। विषय बहुत ही लम्बा है। अगले अंक में उसे और सरल बनाने का प्रयास करेंगे। बहुत धन्यवाद!

राजकुमार भगवतीप्रसाद गुप्त

मंत्री, आर्य समाज वाशी.

“ दीपावली के उपलक्ष्य में ”

खुशहालचन्द्र आर्य

दीपावली है अन्धकार पर प्रकाश की विजय का त्यौहार।
इसलिए छोड़ दो अन्धविश्वास, पाखण्ड, जिनका नहीं है कोई आधार।।

दीपावली अन्याय पर न्याय की विजय का त्यौहार।
मिलते रहो अन्याय, स्थापित करो न्याय, यही है “गीता” का सारा।।

दीपावली है अधर्म पर, धर्म की विजय का त्यौहार।
अन्य मतों को छोड़, वैदिक धर्म अपनाओ जो देता है आत्मा को आहार।।

दीपावली है बेईमानी पर, ईमानदारी की विजय का त्यौहार।
जीवन में यदि उन्नत होना चाहो तो करो सभी से ईमानदारी का व्यवहार।।

दीपावली है कूड़ा-कर्कट पर, सफाई की विजय का त्यौहार।
कूड़े-कर्कट से करो सदा नफरत और सफाई से करो हमेशा प्यार।।

दीपावली है हँसो और हँसाओ और सब को प्रसन्न रखने का त्यौहार।
सब से रखो अच्छा व्यवहार, मत करो किसी भी प्राणी पर अत्याचार।।

अधिकतर लोग समझते हैं, इसे, रावण पर राम की विजय का त्यौहार।
जो भी हो, इससे सीखें, कैसे आवे मेरे जीवन में “राम” के संस्कार।।

दीपावली का त्यौहार हमें सिखलाता है सब से करना प्यार।
न कभी किसी पर जुल्म करो, न करो किसी से गलत व्यवहार।।

यदि करेंगे हमेशा हर व्यक्ति से प्यार और रखेंगे सब से सद् व्यवहार।
तभी हम कह सकेंगे, मनाया हमने सही अर्थों में दीपावली का त्यौहार।।

दीपावली है, बुराईयों को छोड़, अच्छाईयों को अपनाने का त्यौहार।
कहता है “खुशहाल” इस सिद्धान्त को लो अपने जीवन में उतार।।

“भारतीय नारी”

गंगा की मिट्टी ऑचल भर लें,
लज्जा का पानी उसमें मिला दें।

श्रमजित हाथों से इसे गूँदें,
मिलाएँ कुछ नजाकत की बूँदें।

सच्चाई के साँचे में ढालें,
संगेमरमर की सी मूरत बना लें।

मीठे बोल की चाशनी बनाएँ,
तैयार मूरत को वही पिलाएँ।

कर्मशीलता की धूप में सुखाएँ।
कर्तव्य परायणता की आग में पकाएँ।

वफा का गहरा रंग लगाएँ,
दैवीय सादगी के कपड़े पहनाएँ।

संस्कारों के जेवर से सजाएँ,
जिम्मेदारी का घूँघट उढ़ाएँ।

न चकराएँ सुनकर ये विधि हमारी,
क्योंकि

ऐसे ही होती है तैयार आर्यावर्त की नारी।

रेनू आर्या अग्रवाल

(चैन्नई)

॥ ओ३म् ॥

महर्षि दयानन्द जी अपने सत्य ज्ञान दीप से करोड़ों दीप जला गये

पं. उम्मेदसिंह विशारद

मो. ९४११५१२०१९

जब-जब सृष्टि में ईश्वरीय वाणी वेदज्ञान के अभाव से संकट उत्पन्न होती है तब-तब मोक्ष से लौटकर महापुरुष का जन्म होता है। ऐसे व्यक्ति विश्वात्मा के वाहन होते हैं किन्तु वे परमात्मा के अवतार नहीं होते, परन्तु उनमें विषम परिस्थितियों को मिटा देने के लिए शक्ति का संचार हो जाता है। अठ्ठारवी व उन्नीसवी शदी में भारत की विषम परिस्थितियों को चैलेंज के रूप में ऋषि दयानन्द जी ने स्वीकार किया।

प्रथम घटना :- ऋषि दयानन्द जी के जीवन में महाशिवरात्री के पर्व पर रात भर जागकर शिव जी के मन्दिर में मूर्ति के सामने बैठकर उनके दर्शन की प्रबल इच्छा से सारी रात काट दी शिवजी के दर्शन तो क्या होने थे, मन्दिर में सन्नाटा देखकर चूहे बिलों से निकल आये और मूर्ति पर चढ़े प्रसाद को खाने लगे, और उछल कूद करने लगे। यह सब देखकर मूलशंकर (बचपन का नाम) के हृदय में जिज्ञासा उत्पन्न हुई ये कैसा देवता है जो चूहों से भी अपनी रक्षा नहीं कर सकते हैं। इस समस्या का समाधान कोई नहीं कर सका यही कारण है कि अपने कार्यकाल में दयानन्द जी ने मूर्ति पूजा का जबर्दस्त खण्डन किया और रुढ़िवादिता के घोर शत्रु हो गये। यही घटना विश्व का कल्याण कर गई।

द्वितीय घटना :- दीपावली के महापर्व पर इस नश्वर संसार से विदा लेते समय अन्तिम बार कहा कि हे ईश्वर तेरी इच्छा पूर्ण हो, तूने अच्छी लीला की! वाह क्या बात है किसी से न गिला न शिकवा अपितु अपने प्रभु द्वारा जो संसार चक्र चल रहा है और जो जीवों का कल्याण हो रहा है उस ईश्वर इच्छा का स्मरण करते हुए अन्तिम विदा ली। और उस दीपावली में एक ज्ञान दीप से करोड़ों दीप जला गये।

विलक्षण प्रतिभाशाली ऋषि दयानन्द :- महर्षि दयानन्द सच्चे ईश्वर भक्त थे, और इतना बड़ा आत्मबल था कि सदैव सत्य प्रकट करने में अग्रणी रहते थे। वे जानते थे जब तक असत्य का खण्डन नहीं किया जायेगा, तब तक सत्य का मण्डन नहीं होगा। यही कारण है एक तरफ दयानन्द थे और दूसरी ओर सारा जमाना था। उन्होंने समाज के तमाम बुराईयों को सुधारने के चैलेन्ज को स्वीकार किया। और जमाने की गर्दन पकड़कर अपनी ओर चलाया। आज संसार में जो तमाम सुधारवादी विचार रहे हैं वह सब ऋषि दयानन्द जी की देन है।

आज करोड़ों आर्य भी असत्य खण्डन में असमर्थ हैं :- महर्षि दयानन्द जी ने आर्य समाज खोलकर सदैव के लिए सत्य का मंडन और असत्य का खण्डन करने के लिए आर्यों को एक मंच दिया है। इंदनमम का पाठ पढ़ाया था, परन्तु आज हम मन-मम का पाठ तो पढ़ रहे हैं। इंदनमम को एक किनारे रख दिया है। आज अधिकांश आर्यों के परिवार से लेकर चारों ओर समाज में कदम-कदम पर धार्मिक, सामाजिक अन्ध विश्वास परोसा जा रहा है और हम असहाय मूक बनकर देख रहे हैं। हम महर्षि की

आज्ञा की अवज्ञा व वैदिक सिद्धान्तों से समझौता करते जा रहे हैं। यदि आर्य जगत समाज की एक-एक बुराई को लेकर क्रमशः आन्दोलित, सामूहिक रूप से एक स्वर में हो जाये तो समाज में व्यापक प्रभाव पड़ सकता है। हम आर्यों का कार्य केवल आर्य समाज भवनों की रक्षा करना ही नहीं है अपितु बाहर भी निकलना पड़ेगा।

महर्षि ने ज्ञान दीप द्वारा तमाम अन्धविश्वासों से सजग कराया :- स्वामी विरजानन्द जी द्वारा तीन वर्षों में आर्ष, अनार्ष साहित्य का ज्ञान प्राप्त करके रण क्षेत्र में उतर पड़े। ऋषि दयानन्द समझते थे कि हिन्दु समाज का सम्पूर्ण ढाँचा बिगड़ा हुआ है। वेदों और उपनिषदों के अर्थ का अनर्थ करके और पुराणों के कल्पित कथाओं व साहित्य से चारों ओर अन्धविश्वास फैल गया है। इसीलिए उन्होंने सबसे पहला प्रहार वेदों के अर्थों पर किया और सायणाचार्य, महीधर, मेक्समूलर आदि ने जो वेदों के अर्थ किये थे उन्हें नकार दिया क्योंकि वे इतिहासपरक अर्थ थे महर्षि जी ने ईश्वर परक अर्थ करके वेदों का सत्य स्वरूप सामने रखा। एक नई हलचल मचा दी। धर्म के ठेकेदारों की चूलें हिला दी।

सम्पूर्ण भारतवासी पाँच हजार साल से चली आ रही धार्मिक विचार धाराओं से बंधे हुए थे भारतीयों को सत्य विचारधारा ने अत्यन्त प्रभावित किया। और आश्चर्य चकित थे कि एक देवदूत अकेला सम्पूर्ण, धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक कुरृतियों पर कैसे निर्भिकता से प्रहार कर रहा है। एक नया आन्दोलन खड़ा हो गया।

महर्षि दयानन्द जी ने वेदों के रूढ़ि अर्थों को बदल दिया, तथा धार्मिक क्षेत्र में रुढ़िवाद पर प्रहार, राजनैतिक क्षेत्र में रुढ़िवाद पर प्रहार, सामाजिक क्षेत्र में रूढ़िवाद पर प्रहार तथा वर्ण व्यवस्था, जाति व्यवस्था, अन्ध पूजा पद्धति पर प्रहार तथा भारतवर्ष मुसलमानों व अंग्रेजों का गुलाम था, उससे मुक्ति हेतु स्वराज्य शब्द का दीप जलाया, स्वतन्त्रता का पाठ पढ़ाया।

महर्षि दयानन्द जी सदैव के लिये आर्ष साहित्य रचकर ज्ञान दीप जला गये :- महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अमर ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश, व ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, व वेदों का आर्ष भाष्य व जीवन निर्माण के सोलह संस्कारों के लिये संस्कार विधि तथा पंच यज्ञ महाविधि, गौकरूणा निधि, व्यवहार भानु व अन्य साहित्य रचकर और इनका निरन्तर प्रचार-प्रसार हेतु आर्य समाज का संगठन बना कर गये। आर्यों के लिये इन सभी को मार्ग निर्देशिका बना गये।

आर्यों का अतीत, वर्तमान व भविष्य :- महर्षि दयानन्द जी के दिवंगत के अर्ध शताब्दी तक आर्यों का त्याग का स्वर्ण युग था, वर्तमान में आन्दोलन, तथा असत्य का खण्डन, व आर्य नेतृत्व द्वारा कुरृतियों पर प्रहार एक स्वप्न रह गया है और सनातनी भद्र मूर्तियों की पूजा करते हैं, आर्य समाजी मन्दिरों में यज्ञ की पूजा द्वारा ईश्वर को याद करते हैं। आर्य

समाज का आन्दोलन था वह अतीत होता जा रहा है। नई पीढ़ी कल का आर्य समाज दिशाहीन है। उनको विरासत में आर्यसमाज मन्दिरों की रक्षा व रविवार को केवल २ घण्टे यज्ञ व सत्संग के संस्कार मिल रहे हैं। इसलिये जो वर्तमान में आर्य जगत में हो रहा है, भविष्य में वही होगा इसको नकार नहीं सकते हैं। आर्यों हमें आर्य समाज की दशा और दिशा पर चिन्तन करना ही पड़ेगा।

गढ़ निवास मोहकमपुर (देहरादून)
मोबाईल : ९४११५१२०१९

क्रियात्मक योग प्रशिक्षण शिविर

वानप्रस्थ साधक आश्रम, आर्य वन, रोजड़, गुजरात

पूज्य स्वामी सत्यपति जी परिव्राजक की अध्यक्षता में वानप्रस्थ साधक आश्रम, आर्यवन, रोजड़, में कार्तिक शुक्ल ४ से कार्तिक शुक्ल ११ वि.सं. २०७२ तदनुसार १५ नवम्बर से २२ नवम्बर २०१५ तक ८ दिन के क्रियात्मक योग प्रशिक्षण शिविर का आयोजन किया जा रहा है, इस में आपका स्वागत है तथा आपके कल्याण की कामना करते हैं। शिविरार्थी १५ नवम्बर को सायंकाल ४ बजे तक शिविर स्थल पर पहुँच जावें। शिविर समापन २२ नवम्बर को मध्याह्न लगभग १ बजे होगा।

शिविर में क्रियात्मक योग साधना सिखाने के साथ-साथ योग दर्शन के सूत्रों का अध्यापन, यम-नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, विवेक, वैराग्य, अभ्यास, जप-विधि, ईश्वर समर्पण, स्वस्वामी-सम्बन्ध तथा ममत्व को हटाने जैसे अनेकों सूक्ष्म आध्यात्मिक विषयों पर विस्तार से मार्गदर्शन दिया जाएगा। शिविर की दिनचर्या प्रातः ४.०० से रात्रि ९.३० बजे तक रहेगी।

शिविर शुल्क १००० रु. कृपया निम्न बैंक खाते में जमा करावें।

नाम : क्रियात्मक योग प्रशिक्षण शिविर २०१५

खाता क्र. : ०१७९०१०००१८०५२

शाखा : बैंक ऑफ बडौदा, धनसुरा (जि. अरवल्ली)

IFSC No. BARBODHANSU

अहमदाबाद एस.टी. बसे स्टैंड से धनसुरा, मोडासा की ओर जाने वाली बस में बैठकर रोजड़ गाँव उतरें। यहाँ से पुंसरी रोड पर लगभग डेढ़ किलो मीटर दूर आर्यवन है। अहमदाबाद से आर्यवन (रोजड़) लगभग ७० कि.मी. दूर है।

पत्र-व्यवहार का पता

वानप्रस्थ साधक आश्रम

आर्यवन, रोजड़, पत्रा.-सागपुर, जि. साबरकांठा (गुजरात) ३८३३०७

दूरभाष :- (०२७७०) २८७४१७, २९१५५५, ९४२७०५९५५०

E-mail : vaanaprastharojad@gmail.com

Web : www.vaanaprastharojad.org

मुर्दे को गाड़ने तथा जलाने की तुलना

१. मृत शरीर को जलाने से भूमि बहुत कम खर्च होती है। कब्रों से स्थान-स्थान पर बहुत-सी भूमि घिर जाती है।

२. कब्रिस्तान के कारण बहुत-से रोग वायु मण्डल को दूषित कर देते हैं, वायु के दूषित होने से वे फैलकर समाज में रोग फैलाने के कारण बनते हैं। मुर्दों के जला देने से यह नहीं होता।

३. जो जल कब्रिस्तान के पास होकर जाता है वह रोग का कारण बन जाता है, जलाने से ऐसा नहीं होता।

४. कुछ पशु मृत शरीर को उखाड़कर खा जाते हैं रोगी शरीर को खाने से वे रोगी बनकर मनुष्यों में भी रोग फैलाते हैं। जलाने से यह बुराई नहीं होती।

५. कुछ कफन-चोर कब्र खोदकर शरीर का कफन उतार लेते हैं। इस प्रकार मृतक के सम्बन्धियों के मनोभावों को ठेस पहुँचती है। मृतक को जला देने से ऐसा नहीं हो सकता है।

६. लाखों बीघा जमीन संसार में कब्रिस्तानों के कारण रूकी पड़ी है। जलाना शुरू करने से यह खेती तथा मकान बनाने के काम आयेगी। जिन्दों के लिए ही जमीन थोड़ी पड़ रही है उसे मुर्दों ने घेर रखा है।

७. दरगाहों की समाधि-पूजा, कब्रों की पूजा, पीरों की पूजा, मुर्दों की पूजा-अनेक प्रकार के पाखण्ड मुर्दों के जला देने से खत्म हो जायेंगे।

८. बहुत से पुजारी (जिनका पेशा यही है कि कब्रों, दरगाहों का चढ़ावा खायें) मुर्दों के जला देने से वे लाभदायक काम पर लगकर समाज के लिए उपयोगी व्यक्ति बनेंगे।

९. इन मजारों की पूजा करने, चढ़ावा चढ़ाने और आने-जाने में जो करोड़ों रुपया व्यर्थ का व्यय होता है, बच जायेगा।

१०. सैकड़ों दरगाहें और मकबरे ऐसे हैं जो हजारों नहीं लाखों रुपये की लागत से बने हैं। इस प्रकार जो करोड़ों रुपया अनावश्यक खर्च होता है, वह बचकर शिक्षा, स्वास्थ्य-रक्षा आदि उपयोगी कार्यों पर व्यय हो सकेगा।

११. अनेक पतित लोग मुर्दों को उखाड़कर उनके साथ अनेकविध दुष्प्रयोग (तान्त्रिक व्यभिचार तथा कुकर्म) करते पकड़े गये हैं। जलाने से इन मुर्दों की ऐसी दुर्गति नहीं होगी। कुछ तकियों और हिन्दू-समाधियों पर चरस, गांजा, अफीम और शराब पी जाती है। जलाने से ये दुराचार तथा भ्रष्टाचार भी नहीं होंगे। ऋषि दयानन्द ने अन्त्येष्टि की प्रचलित सभी रीतियों पर विचार करते हुए थोड़े से गिने-चुने शब्दों में जो लिखा है, वह अत्यन्त ही उपादेय है-

प्रश्न- जलाना, गाड़ना, जल-प्रवाह करना और जंगल में फेंक देना- इन चारों में से कौन-सी बात अच्छी है?

उत्तर- सबसे बुरा गाड़ना है। उससे कुछ थोड़ा बुरा जल में डालना है। क्योंकि उसको जलजन्तु उसी समय चीर-फाड़कर खा जाते हैं, परन्तु जो कुछ हाड़ या मल जल में रहेगा, वह सड़कर जगत् को दुःखदायक होगा। उससे कुछ-एक थोड़ा बुरा जंगल में छोड़ना है, क्योंकि यद्यपि उसको मांसाहारी पशु-पक्षी नोंच खायेंगे तथापि जो उसके हाड़ की मज्जा और मल सड़कर दुर्गन्ध करेगा उतना जगत् का अनुपकार होगा और जो जलाना है वह सर्वोत्तम है, क्योंकि उसके सब पदार्थ अणु होकर वायु में उड़ जायेंगे।

(-साधार- 'वैदिक पथ')

अदृश्य भी दीखता है

प्रो. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

(त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि)

हमने देखा कि मनुष्य तथा संसार- ये दोनों दृश्य हैं, इसलिए इन दोनों के पीछे कोई अदृश्य सत्ता अवश्य होनी चाहिए। अदृश्य से ही दृश्य का प्रवाह होता है; अदृश्य न हो तो दृश्य नहीं हो सकता, अदृश्य ही पर दृश्य निर्भर करता रहता है। कहने को तो दृश्य सत्य है, परन्तु यथार्थ सत्ता अदृश्य की है, दीखने को वृक्ष सत्य है परन्तु यथार्थ सत्ता बोज की है, उसी बीज की जिसमें वृक्ष अदृश्य है।

व्यक्ति में शरीर दीखता है, प्रकृति में संसार दिखता है, व्यक्ति के पीछे एक अवैयक्तिक, अदृश्य सत्ता है, संसार के पीछे एक असंसारी सत्ता, अदृश्य सत्ता है। सत्य तो दोनों हैं, परन्तु अवैयक्तिक तथा असांसारिक सत्ता अपेक्षाकृत अधिक सत्य है क्योंकि अदृश्य सत्ताओं पर ही दृश्य सत्ताएँ आधूत हैं, फिर भी हम शरीर तथा संसार से चिपटे रहते हैं, इनमें रमे रहते हैं।

अदृश्य सत्ता के अन्तिम सत्य होने पर भी हम उधर ध्यान क्यों नहीं देते? इसका कारण यह कि वह सत्ता सर्वव्यापी होने के कारण हमें सदा प्राप्त है। जो वस्तु सदा प्राप्त होती है उसे प्राप्त है। जो वस्तु सदा प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं किया जाता। वह हमारे इतने सान्निध्य में है कि हम उधर सोचते ही नहीं। दूर हो तो माने; जो हमारे सदा साथ है उसे कौन सोने? वह सत्ता साथ होती हुई भी अदृश्य है, इसलिए भी उसकी तरफ ध्यान नहीं जाता; जो दृश्य हैं उसे ही सोचा करते हैं, उसी में रमे रहते हैं। मनुष्य अपनी अदृश्य-सत्ता को जो सदा उसके साथ है सदा भुलाये रहता है, अपनी दृश्य सत्ता, जो अपेक्षाकृत असत्य है, उसी से चिपटा रहता है। प्रकृति में भी प्राण-प्रतिष्ठा करनेवाली अदृश्य चेतना सत्ता को वह भूल जाता है, प्राकृतिक दृश्य-पदार्थों के पाने में ही जीवन का लक्ष्य बना बैठता है। मनुष्य की क्या विडम्बना है कि जो सत्य है उसके अदृश्य होने के कारण उसे भुला बैठा है, जो सत्यसम है उसे दृश्य होने के कारण सत्य समझकर उसमें लीन हो रहा है।

वेदान्ती तो व्यक्ति की अदृश्य सत्ता को (आत्मा या ब्रह्म) सत्य तथा दृश्य सत्ता (प्रकृति) को असत्य मानते हैं, भ्रम मानते हैं। इसी प्रकार सृष्टि की अदृश्य सत्ता (ब्रह्म या आत्मतत्त्व) को सत्य तथा दृश्य-सत्ता को - अर्थात् प्रकृति को-जो दीख रही है- असत्य मानते हैं। उनके कथनानुसार सृष्टि असत्य है, भ्रम है, ठीक इस तरह जैसे अन्धरे में पड़ी हुई रस्सी भ्रम के कारण सर्व प्रतीत होती है। उनके कथनानुसार आँखों से दीखनेवाला संसार रज्जू में सर्व की भ्रांति की तरह असत्य है; संसार का जहाँ स्रोत है वह ब्रह्म या आत्म-तत्त्व ही सत्य है। वे तो यहाँ तक पहुँच गये हैं कि सृष्टि को मानते ही नहीं; प्रकृति को ही ब्रह्मया ब्रह्म ही प्रकृति मानते हैं। यह सबकुछ अत्युक्ति है। अस्ली स्थिति यह है कि अदृश्य सत्ता वास्तविक है, यथार्थ है, सत्य है क्योंकि उसी के आधार पर दृश्य-सत्ता

टिकी हुई है, परन्तु दृश्य-सत्ता में हमें उस सत्यता की, उस यथार्थता की प्रतीति हो रही है जो सत्यता या यथार्थता दृश्य-सत्ता में प्राण-प्रतिष्ठा करनेवाली अदृश्य सत्ता में है। इस दृष्टि से अदृश्य-सत्ता सत्य है, और दृश्य-सत्ता में सत्य की प्रतीति हो रही है। अदृश्य-सत्ता (परमेश्वर या ब्रह्म) के विषय में हम विचार-चिन्तन नहीं करते। इसके दो कारण हैं। पहला कारण यह है कि उसके विषय में हम निश्चिन्त होते हैं क्योंकि वह सत्ता सर्वव्यापक है, सब जगह मौजूद है, हमारे इतने सान्निध्य में है, इतने समीप में है कि उसके विषय में हमें सोचने की जरूरत ही नहीं पड़ती, वह हमें 'प्राप्त' है, जो वस्तु प्राप्त होती है उसके विषय में हमारा ध्यान ही उधर नहीं जाता, वह तो है। इसलिए सर्वसाधारण का जीवन ऐसे चल रहा है कि उन्हें आत्मा को, परमात्मा को जानने की जरूरत ही नहीं। हाँ, जिस सत्ता को जानने की जरूरत है वह दृश्य है, संसार है, संसार है, प्रकृति है। मनुष्य मात्र ही उस वस्तु को चाहता है जो सत्य है, यथार्थ है, परन्तु क्योंकि अदृश्य-सत्ता सर्वव्यापक है, जहाँ मैं हूँ वहाँ वह भी है, जहाँ वह है वहाँ मैं भी हूँ; इसीलिए वह सत्ता तो मिली ही हुई है। जो नहीं मिली हुई वह ऐसी वस्तु है जो हमसे दूर है, दृश्य जो कुछ है वह दूर ही तो है, दूर है तभी तो दीखता है, इसलिए मनुष्य आत्मा को, परमात्मा को पाने के लिए आतुर नहीं है; वह उस सत्ता को पाने के लिए आतुर है जो दृश्य है, दीखती है, जो उससे दूर है, जो उसे प्राप्त नहीं परन्तु जिसे वह प्राप्त करना चाहता है, इसलिए प्राप्त करना चाहता है क्योंकि उसमें उसे उस सत्ता की झाँकी दिखाई देती है जो अदृश्य तो है, परन्तु अदृश्य होती हुई भी सत्य है, यथार्थ है। अदृश्य सत्ता (परमेश्वर या ब्रह्म) के विषय में विचार-चिन्तन नहीं करते। इसका दूसरा कारण यह है कि यद्यपि वह सत्य है, यथार्थ है, तथापि अदृश्य है, बीज-रूप है, कारण-रूप है, आँखों के सामने नहीं है। क्योंकि अदृश्य-सत्ता मनुष्य के हाथ नहीं भ्राती-अदृश्य होने के कारण तथा सर्वव्यापक होने से अत्यन्त समीप होने के कारण - इसलिए दृश्य में अदृश्य की झलक या प्रतीति होने की वजह से मनुष्य दृश्य में, संसार में रमा रहता है। दृश्य में रमे रहने का कारण यही है कि उसमें उसे अदृश्य में होनेवाली सत्यता या यथार्थता की प्रतीति होती है। मनुष्य का वास्तविक ध्येय सत्य को, यथार्थ को पाना है। जब सत्य या यथार्थ सत्ता अदृश्य होने अथवा सर्वव्यापक या निकटतम होने के कारण हाथ नहीं लगती, तब मानव के लिए इसके बगैर चारा ही क्या रह जाता है कि वह अदृश्य-सत्ता को पाने के लिए दृश्य-सत्ता को हाथ लगाये, उस दृश्य-सत्ता को जिसमें अदृश्य-सत्ता की झलक या प्रतीति होती है। रस्सी को पकड़कर मनुष्य ऊपर पहुँचता है, दृश्य को पकड़ वह अदृश्य तक जा पहुँचता है परन्तु यथार्थ सत्ता तो अदृश्य ही है, दृश्य नहीं। यदि अदृश्य न हो तो दृश्य रह नहीं सकता, परन्तु मनुष्य उलझा दृश्य में ही रहता है, संसार में ही, संसार के विषय-भोग में ही रमा रहता है क्योंकि आँखों के सामने तो यह स्थूल

संसार ही है। जैसा दीखता है वैसा वह नहीं है। जैसा दीखता है वैसा वह हमारी इन्द्रियों की रचना के कारण है। आँख का लैस जैसा देखता है संसार वैसा दीखता है। लैस बदल जाय, तो संसार बदल जायगा। हर व्यक्ति का आँख का लैस उन्नतोदर हो, तो हर वस्तु हर व्यक्ति को मोटी दिखाई देने लगेगी, लैस अवनतोदर हो तो सभी को हर वस्तु पतली दिखाई देगी। हाथी को हम कितने दिखाई देते हैं, कीड़ी को कितने दिखाई देते हैं, यह तो हाथी या कीड़ी बनने पर पता चलेगा, परन्तु इसमें सन्देह नहीं, हर वस्तु का हमारा ज्ञान हमारे आँख के लैस की बनावट पर निर्भर है, यथार्थ में वह कितनी है, कैसी है- यह हम नहीं कह सकते। हम अपनी इन्द्रियों के कारण इस तरह के बने हुए हैं कि संसार और उसके विषयों को ही यथार्थ समझते हैं। मेरा धन, मेरा मकान, मेरा पति, मेरी पत्नी, मेरे सम्बन्धी, मेरा समाज, मेरा देश-यह सब ज्ञान अयथार्थ है, असत्य है, बनाया हुआ है, कल्पित किया हुआ है; जब समय आता है तब यह सब-कुछ छूट जाता है, छिन्न-भिन्न हो जाता है, अस्लीयत यह है कि मैं और वह ये दोनों भिन्न-भिन्न सत्ताएँ हैं, इनका आपस का सम्बन्ध बनाया हुआ है, कल्पित किया हुआ है।

इतना ही नहीं कि यह सम्बन्ध कल्पित है, मेरे दृश्य रूप का और उसके भीतर रहनेवाले अदृश्य आत्मा का सम्बन्ध भी कल्पित है। मैं अपने को शीर समझे बैठा हूँ। यथार्थ सत्य यह है कि मैं जो स्थूल रूप में दीखानेवाला शरीर है, और उसके भीतर जो विद्यमान अदृश्य अशरीर है- इन दोनों की पृथक्-पृथक् सत्ता है। उस अदृश्य-सत्ता से, जिसे आध्यात्मिक शब्दावली में 'आत्मा' कहते हैं, इस दृश्य शरीर का निर्माण होता है। यह दृश्य शरीर उस अदृश्य, अशरीर सत्ता के सहारे टिका हुआ है। अदृश्य कूच कर जाये तो दृश्य समाप्त हो जाता है। यही सिद्धान्त दृश्य-सृष्टि पर लागू है। यथार्थ-सत्ता इस दृश्य सृष्टि की नहीं, यथार्थ-सत्ता उस अदृश्य शक्ति की है जिसके सहारे यह दृश्य सृष्टि टिकी हुई है। सत्य वह है जो नहीं दीखता, असत्य वह है जो दीखता है। सृष्टि में जो बदलता रहता है, परिवर्तनशील है वह उस पर टिका हुआ है जो बदलता नहीं, परिवर्तित नहीं होता, सदा एक रहता है, स्थिर ही सत्य है, अस्थिर असत्य है, कम से कम अस्थिर स्थिर के ऊपर आश्रित है जैसे स्थिर किल्ली पर घूमनेवाली चक्की और स्थिर धुरे पर घूमनेवाला पहिया आश्रित है।

जीवन का लक्ष्य सत्य को जानना है। हमारा जीवन असत्य में बीत रहा है। हम चारों तरफ से असत्य से घिरे हुए हैं। सत्य क्योंकि सर्वव्यापक है, सब जगह है इसलिए निकटतम होने तथा अदृश्य हाने के कारण हम उसे देख नहीं पाते। सत्य सब जगह मौजूद होने के कारण हमें प्राप्त है; जो वस्तु 'प्राप्त' होती है उधर हमारा ध्यान नहीं जाता। हम परिवर्तनशील वस्तु को ही जो हमें अप्राप्त है, जो अस्थिर है, जो असत्य है, जिसे हम देख सकते हैं, और देख सकने के कारण ही जिसे हम सत्य समझते हैं, यद्यपि वह सत्य नहीं होती परन्तु जिसमें सत्य की प्रतीति होती है उसी में सम्पूर्ण जीवन बिता देते हैं। हमारे जीवन की यात्रा उस वस्तु को पाने के लिए नहीं है जिसमें सत्य तो न हो, केवल सत्य की प्रतीति हो; हम तो

यथार्थ को, पाना चाहते हैं। प्रश्न यह है कि इसका क्या उपाय है? इस समस्या का क्या हल है?

हमने प्रारम्भ में कहा था कि संसार के पदार्थों को दो भागों में बाँटा जा सकता है- दृश्य तथा अदृश्य। अदृश्य यद्यपि दीखता नहीं है, परन्तु यथार्थ सत्ता उसी की है; दृश्य हमें दीखता है परन्तु उसकी सत्ता अपने आप में कुछ नहीं है। अदृश्य न हो तो दृश्य रहता ही नहीं। मकान में रहनेवाला न रहे तो मकान बेकार, आत्मा न रहे तो शरीर बेकार, भोक्ता न रहे तो भोग्य-पदार्थ बेकार। इस तथ्य को समझ लेना ही उस प्रश्न का हल है, उस समस्या का समाधान है, जिस प्रश्न या जिस समस्या का हमने अभी उल्लेख किया है।

हम अभी तक 'प्रतीति' को 'प्राप्त' माने बैठे हैं, 'असत्य' को 'सत्य', 'अस्थिर' को 'स्थिर', 'परिवर्तनशील' को 'अपरिवर्तनीय', 'क्षण-भंगुर' को 'सनातन' समझे हुए हैं। हम 'प्रतीति' के प्रति जागे हुए हैं, 'प्राप्त' के प्रति सोये हुए हैं; 'श्रसत्य' के प्रति जागे हुए हैं, 'सत्य' के प्रति सोये हुए हैं; 'अस्थिर' के प्रति जागे हुए हैं, 'स्थिर' के प्रति सोये हुए हैं; 'परिवर्तनशील' के प्रति जागे हुए हैं, 'अपरिवर्तनीय' के प्रति सोये हुए हैं। इसी को गीता में कहा है- "या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागति संयमी, यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पाश्यतो मुने;" (२।६६) जिस क्षेत्र में सर्व साधारण लोग सोये रहते हैं, उसमें संयमी लोग जागे रहते हैं, जिस क्षेत्र में सर्व साधारण लोग जागे रहते हैं उसमें संयमी सोये रहते हैं। हम सब भौतिक जगत् के प्रति सजग हैं, आध्यात्मिक जगत् के प्रति प्रसुप्त हैं। हमारी इस दीर्घ-निद्रा को देखकर ही स्वामी विवेकानन्द ने हमें ललकारा था- उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राथ्य वरान् निबोधत। (कठ १/३/१४)

हमारी समस्या का हल तभी हो सकता है जब हम 'प्राप्त' को प्राप्त और 'प्रतीति' को प्रतीति समझें, 'असत्य' को असत्य और 'सत्य' को सत्य समझें। यह भी तब हो सकता है जब हम 'सत्य' और 'असत्य' एवं 'प्राप्त' तथा 'प्रतीति' के भेद पर विचार करें और उनके भेद को समझें। इन दोनों के भेद को समझने के लिए विचार तथा ध्यान के भेद को समझना आवश्यक है।

हमें यह जान लेना चाहिए कि 'विचार' तथा 'ध्यान' ये दो अलग-अलग मानसिक प्रक्रियाएँ हैं। प्रायः 'विचार' तथा 'ध्यान' को एक ही वस्तु समझा जाता है, परन्तु ऐसा नहीं है। 'विचार' सविषय मानसिक प्रक्रिया है, इसमें ऊहापोह चलता है, मन के समाने भिन्न-भिन्न पथ आते हैं, किसी को यह ठीक समझता है, किसी को गलत। 'ध्यान' में ऐसा नहीं होता। 'ध्यान' के विषय में योगदर्शन का कहना है- 'ध्यानं निर्विषयं मनः'- ध्यान मन की वह अवस्था है जब सब विचार शान्त हो जाते हैं, मन निर्विषय हो जाता है। भरे हुए तालाब में जैसे चारों तरफ से झंझावात के थपेड़ों से लहरें उठती और बैठती हैं ऐसी मानसिक अवस्था 'विचारों' की अवस्था है; अब लहरें उठना-बैठना छोड़कर समतल आ जाती हैं तब मन की जो अवस्था होती है उसे 'ध्यान' की अवस्था कहा जाता है।

‘ध्यान’ की अवस्था का क्या रूप है? यह तो हम बार-बार कह आये हैं कि मनुष्य में दो सत्ताएँ हैं- दृश्य तथा अदृश्य। शरीर दृश्य है, मन द्वारा शरीर में जो विक्षेप उत्पन्न हो जाते हैं उन्हें भी दृश्य-कोटि में रखा जा सकता है। जब हमारे भीतर का अदृश्य हमसे अलग होकर, हमारे दृश्य रूप को देखता है, तब हम जिस अवस्था में पहुँच जाते हैं उसे ‘ध्यान’ कहते हैं। अपने को अपने से अलग होकर देखने लगना ‘ध्यान’ कहते हैं। अपने को अपने से अलग होकर देखने लगना ‘ध्यान’ कहलाता है। इसके लिए जे. कृष्णमूर्ति ने अंग्रेजी के जिस शब्द का प्रयोग किया है वह है- Awareness अवैयर्थनैस-स्वात्मप्रत्यक्ष-अपने को देख लेना, अपना साक्षात्कार करना। हम अपने को नहीं देखते, हम बहाव में बहे रहते हैं। हमें यह खयाल ही नहीं होता कि हम बहाव में से निकलकर अपने को काम-क्रोध-लोभ-मोह की नदी में बहता हुआ देख सकते हैं। अपने को देख सकना ही सबसे बड़ी कला है, सबसे बड़ा योग है।

प्रश्न यह है कि क्या हम अपने को अपने से अलग होकर देख सकते हैं या नहीं? हाँ, यह समस्या है, इसी को योग-दर्शन ने ‘तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम्’ कहा है- ‘ध्यान’ उस अवस्था का नाम है जब व्यक्ति निर्विषय होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है, अपने-आप में आ जाता है। कल्पना कीजिए कि आप क्रोध में हैं। आँखें लाल-लाल हो गयी हैं, गालियाँ बक रहे हैं मुँह से झाग निकल रही है- यह आपकी क्रोध की दशा है। क्या अपनी इस क्रोधपूर्ण दशा को क्रोध से अलग होकर आप देख नहीं सकते? मनुष्य के उद्वेग- काम, क्रोध आदि-जब उसे घेर लेते हैं तब वह अन्धा हो जाता है। क्रोध में वह काँप रहा है, हाथ-पैर पटक रहा है। आप कहते हैं- तुम क्रोध में हो। वह कहता है- नहीं, मैं क्रोध में नहीं हूँ। उस समय वह क्रोधावेश में है, इसलिए वह उद्वेग के कारण अपने की देख नहीं पा रहा, हो रहा है। परन्तु क्या वह अपने क्रोधीपन को देख ही नहीं सकता? ज्योंहि उसे दीखने लगे कि वह क्रोध में था, क्रोध रफूचककर हो जाता है। क्रोध रफूचककर इसलिए हो जाता है क्योंकि वह अपने से अलग होकर अपने को देखने लगता है। इस प्रकार अपने को अपने से अलग होकर देखने लगना ही ‘ध्यान’ कहलाता है।

‘ध्यान’ कोई अलग से योग की प्रक्रिया नहीं है। यह स्वाभाविक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। इसे किसी गुरु से जानने की जरूरत नहीं। हर कोई इसे जानता है। जब क्रोध के बाद मनुष्य कहता है कि मुझे क्या हो गया, मैं अपने को भूल ही गया, इस छोटी-सी बात पर मुझे आपे से बाहर नहीं होना चाहिए था- यह सब ध्यान के कारण ही होता है। भेद यह है कि यह सब-कुछ हम क्रोध शान्त होने के बाद कहते हैं; अगर क्रोध की दशा में ही यह सब-कुछ हम क्रोध शान्त होने के बाद कहते हैं; अगर क्रोध की दशा में ही यह सब-कुछ कहने लगें, तो क्रोध उसी समय शान्त हो जाये, ठीक ऐसे जैसे दूध में उबाल आते ही उस पर पानी का छींटा देते ही उबाल बैठ जाता है।

अपने से अपने को अलग करके देखना- यह जीवन की एक कला है। जैसे हम संसार के पदार्थों को देखते हैं, ऐसे ही अपने को अपने से

अलग कर देखने का अभ्यास करना चाहिए। जब मनुष्य काम-क्रोध-लोभ आदि किसी मनोविकार में हो, तब वह अपने रूप से अलग खड़ा होकर अपने को देखने लगे, तो क्रोध रहता ही नहीं, लोभ रहता ही नहीं, मोह रहता ही नहीं। इसी को आध्यात्मिक शब्दावली में रूपान्तर या अंग्रेजी में कहते Transformation कहते हैं। मनुष्य के रूपान्तर में देर नहीं लगती, वह झट हो जाता है, आवश्यकता है सिर्फ ध्यान की- अपने को अपने से अलग होकर देखने की।

क्यों उदास बैठे हैं

तर्ज: निगाहें दर पे लगी हैं

ऐ मेघ बरस, वेदों का सरस आनन्द में भी जवा आ जाए
मधु-मंत्र मनन के मंथन से जीवन की मधुरता पा जाए ॥

* भजन *

वेदों के ज्ञान से हम क्यों उदास बैठे हैं?
बिना स्वाध्याय के चिन्तन से दूर रहते हैं?

वेदों के ...

क्यों मन से जाग रहीं लहरें ईर्ष्या-द्वेषों की (२)
क्यों फिर भी खुद को भला, ईश-भक्त कहते हैं॥

वेदों के.....

सासानीसा गमपमग, मधनीसांनीधनीध मग
गरेरे सानी ध, रे सा सानी धप, ग रे रे सा नी ध
रे सा सा नी ध प, सा नी धप मग मग,
रे सा गरे सा नी सा, पग मग मपध नी सा
भला जो कर नहीं सकते, ना करने देत हैं (२)
परेशा करके परेशानियों में रहते हैं

वेदों के.....

जो वेद-ज्ञान को लेकर भी खुद बदलते नहीं
ना आर्य हो के भी वो खुद को आर्य कहते हैं
क्यों गाते भी नहीं महिमा वेद-ईश्वर की
जो महिमा खुद की ही गाते वा मद में रहते हैं

वेदों के....

रहो ना ऐसे ही खुद का ज़रा खयाल करो
आदेश वेदों का हम क्यों भुलाये रहते हैं

वेदों के

- ललित साहनी

ईश्वर का संकल्प

चमूपति एम. ए.

“दो शरीरों में एक जीवन-शक्ति, परमेश्वर का यज्ञ”

मौलाना को आक्षेप तो तीसरे मन्त्र पर है, जो उक्त सूक्त में चौथे नम्बर पर आया है। मन्त्रार्थ इस प्रकार है: “सर्वप्रथम (काम) इरादा हुआ, यह ज्ञान का आरम्भिक बीज था। मनीषियों ने चिन्तन तथा मनन से मानसिक एकाग्रता द्वारा अभाव से भाव का सम्बन्ध ज्ञात किया।”

इस मन्त्र के साथ-साथ आपने अथर्ववेद के कुछ मन्त्रों को भी अपने आक्षेप का आधार बनाया है। उन मन्त्रों का अनुवाद यह है-

“संकल्प (कामना) - इरादा सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ, न उसे मनीषियों ने जाना, न बड़ों ने, न साधारण मनुष्यों ने, अतः ओ ईश्वरीय संकल्प ! तू सबसे बड़ा है, मैं तुझे नमस्कार करता हूँ।”

यह दूसरे शब्दों में ऋग्वेद के उपयुक्त मन्त्र को दोबारा कहा गया है।

“ओ ईश्वरीय संकल्प ! जो मेरी विरोधी भावनाएँ हैं, उनका विनाश कर, उनको गहरे अंधेरे में गिरा, वे मेरे अंग-प्रत्यंग से सर्वथा दूर हो जाएँ, सुख-रहित हो जाएँ, एक क्षण भी जीवित न रहें।”

इन मन्त्रों के अर्थ की स्पष्टता के लिए इसी सूक्त के एक और मन्त्र पर भी दृष्टि डालना आवश्यक है। यद्यपि मौलाना ने इसे अपने आक्षेप का आधार नहीं बनाया, तो भी हम उपर्युक्त मन के साथ इस मन्त्र को सम्मिलित करने की पाठकों से आज्ञा चाहते हैं। मन्त्रार्थ इस प्रकार है-

“ऐ ईश्वरीय संकल्प ! जो तेरा पवित्र सुखप्रद रूप है, जिससे जो बात तेरे सम्मुख होती है, वह सर्वथा सत्य होती है, और सत्य होकर रहती है, उन रूपों से हमें हर ओर से भर दे, पाप के विचारों को कहीं दूर डाल !”

मौलाना के आक्षेप का मूल कारण-शब्द ‘काम’ है जो सब मन्त्रों में प्रयुक्त हुआ है। इस शब्द का अर्थ स्वयं मौलाना ने प्रथम पृष्ठ पर ‘इच्छा’, पृष्ठ दो पर संकल्प और उसके पश्चात् ‘इच्छा’ किया है। फिर न जाने उन्हें क्या सूझी कि ब्रेकेट में ‘इच्छा’ शब्द के साथ उन्होंने कामवासना (शहवत) भी लिख दिया। काश ! मौलाना कम-से-कम मन्त्रों के विषय पर ही दृष्टिपात कर लेते। इतने पवित्र विषय में ‘कामवासना’ अर्थ का प्रयोग कहाँ तक उपयुक्त है? दसवें मन्त्र में तो मौलाना को व्यर्थ में ही ‘पौरुष से हीन, हिजड़े, नपुंसकों’ का वर्णन प्रतीत हुआ है। शब्द है ‘निरिन्द्रिय’ जिसका अर्थ है, ‘इन्द्रियों से, उनके विषयों से दूर रहनेवाला’ - ‘इन्द्रियेभ्यो निर्गताः’। फिर लिखा है, अरसा, अर्थात् रस से दूर। यहाँ वासनाएँ शत्रु के रूप में भी वर्णन की गई हैं। उर्दू कवि जौक ने भी तो लिखा है ‘बड़े मूजी को मारा, नफ्से-अम्मारा को गर मारा’ (यहाँ वासना को दुष्टशत्रु कहा है)। इसी प्रकार भर्तृहरि भी इन्हें शत्रु-रूप में गिनते हैं - ‘क्रोधश्चेत् किमरिभिः’ - क्रोध है तो दूसरे शत्रुओं की क्या आवश्यकता ? इस विषय की व्याख्या ऊपर के मन्त्र २५ में की गई है। यहाँ

कामवासना को इन्द्रियों से दूर रखने की प्रार्थना है और वह भी अपने इस निश्चय द्वारा।

क्या सुन्दर तथा प्यारा विषय है! निश्चय को शक्तिशाली तथा महत्वपूर्ण इसलिए स्वीकार किया गया है कि वह ईश्वरीय शक्ति के रूप में संसार की उत्पत्ति का कारण बनता है। यह शक्ति दयापूर्ण शक्ति है; सच्चरित्र व्यक्ति इसे अपने भीतर पाता है, उसे जगाता है, दया की दुहाई देता है, और उसके सहारे पाप के विचार तक से दूर रहने का प्रयास करतम है। परन्तु मौलाना हैं कि एक दैवी शक्ति को आसुरी रूप देने पर तुले हुए हैं! फरमाते हैं।-

प्रश्न ५ - वह इच्छा जो ईश्वर के हृदय में सर्वप्रथम उत्पन्न हुई... जिसे वेद काम, अर्थात् कामवासना का नाम देता है, उसका मूल कारण क्या है? और वह किस वेदमन्त्र में वर्णित है?

- हम क्या निवेदन करें? वेद में तो शब्द ‘काम’ इच्छा के अर्थ में है, शेष मौलाना की अपनी कल्पना-शक्ति का चमत्कार है। यही मूल कारण है, और यह मौलाना की पुस्तक में वर्णित है।

प्रश्न - ६ ईश्वर की इस (काम) वासना में क्या रहस्य निहित थे जिन्हें न तो देवताओं ने समझा, न मनुष्यों ने, और जिन्हें न ईश्वर जी स्वयं समझ सके, क्योंकि ईश्वर जी स्वयं देवताओं में ही सम्मिलित हैं और आर्यसमाज के सिद्धान्तानुसार चौतीसवाँ देवता हैं।

- मौलाना को भ्रम इस कारण हो गया है कि स्त्रीपुरुष के सम्भोग के विचार को भी ‘काम’ कहा जाता है, उसे कामदेव भी कहते हैं। संस्कृत में ‘देव’ के अर्थ हैं दयालु। यदि स्त्री-पुरुष के सम्भोग की भावना भी दैवी हो, अर्थात् उसका अभिप्राय चरित्रवान् सन्तान की उत्पत्ति हो तो उसे कामदेव कहेंगे, नहीं तो वह कामासुर होगा, जिसे मौलाना शहवत कह रहे हैं। ईसाइयत में एक युग वह भी बीता है, जब स्त्री-पुरुष के इस सम्बन्ध को, चाहे उसका लक्ष्य कुछ हो, पाप गिना जाता था। इसी से संसार से विरक्ति, विवाह न करने का विचार पनपा; परन्तु इस्लाम तो इस विरक्ति का विरोधी है। हजरत मुहम्मद उस व्यक्ति को अपना शिष्य ही नहीं मानते, जो विवाह न करे, अर्थात् विवाह करना इस्लाम के सिद्धान्त में आवश्यक कर्तव्य है। क्या इस धार्मिक कर्तव्य का मूल शहवानी, अथवा मौलाना की भाषा में पाशविक वासना की पूर्ति ही है? इसी के कारण तो सामाजिक भव्य भवन खड़ा है। नेक सन्तान उत्पन्न करने का विचार एक अत्यन्त पवित्र विचार है, दैवी विचार है, एक नये मनुष्य को संसार में लाने का विचार है; इसी संकल्प से ही तो मनुष्य सचमुच रचयिता बनता है! यही वह संकल्प है, जो विश्व के रचयिता ने सृष्टि-उत्पत्ति के समय किया। हाँ, मनुष्य की शक्ति तथा साधन सीमित हैं; सृष्टि-रचयिता की शक्ति तथा साधन उससे सर्वथा भिन्न है; अल्पज्ञ जीव के संकल्प में त्रुटियाँ रहती हैं, सर्वज्ञ का ज्ञान सर्वथा पूर्ण होता है। दोनों में कोई समता नहीं, तो यह अल्पज्ञ तथा सर्वज्ञ का ज्ञान ही कहलाता है। यही अवस्था

दोनों के काम की है। परमेश्वर का संकल्प, क्रिया, त्रुटिरहित, पवित्र तथा शुभ होता है; मनुष्य के संकल्प तथा विचारों से त्रुटि का होना सम्भव है; बुराई का होना भी असम्भव नहीं, परन्तु दोनों (ईश्वर तथा जीव) के संकल्प हैं तो संकल्प ही ! सन्तानोत्पत्ति का विचार इस्लाम में धार्मिक कर्तव्य माना गया है; वह संकल्प भी संकल्पों में सम्मिलित है। सन्तानोत्पत्ति की इच्छा की यह व्याख्या हमने मौलाना के व्यर्थ आडम्बर से विवश होकर की है, नहीं तो इन मन्त्रों में इसका न तो उपयोग है, और न स्थान। मौलाना ने परमेश्वर को देवताओं में आर्यसमाज के सम्मिलित करने पर सांकेतिक व्यंग्य किया है कि क्या उसे भी अपने इस इरादे का ज्ञान था या नहीं? मौलाना! वेद में जो 'देवता' शब्द आया है उसमें ईश्वर सम्मिलित नहीं। जैसे सृष्टिरचयिता कहने से रचयिता को सृष्टि से भिन्न समझा जाता है, और सृष्टि से अभिप्राय यही भौतिक जगत् लिया जाता है, परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि परमेश्वर सृष्टि में नहीं है। यहाँ देवता से अभिप्राय मनीषी योगी से है, परमेश्वर से नहीं, अतः देवता भी उसे नहीं जानते, परन्तु परमेश्वर जानता है।

वेद से निवृत्त होकर मौलाना उपनिषदों की ओर बढ़े हैं। बृहदारण्यक में कथा आती है- "पहले आत्मा था.... उसका मन न लगता था, इसलिए अकेले का मन नहीं लगता। उसने दूसरे की इच्छा की। वह ऐसा था जैसे स्त्री-पुरुष मिले हुए हों। उसने स्वयं को दो भागों में विभक्त किया; उससे पति और पत्नी बने।" (बृहदारण्यक १-४-१-३) इस कथा में अत्यन्त रोचक रूप से पति-पत्नी के दो शरीर तथा एक आत्मा होने का रहस्य व्यक्त किया है। कहा जाता है जीवन तो एक ही है, आरम्भ में एक था, इसके दो भाग किये गये हैं जो दो शरीरों में विद्यमान हैं। स्वयं कुरआन कहता है-

"जिसने उत्पन्न किया तुमको एक जीवन से और उत्पन्न किया उससे उसकी पत्नी को, और उनसे कई पुरुष तथा स्त्रियों का विस्तार किया (सूरत नसा, रकू)।" बृहदारण्यक उपनिषद् की ऊपर लिखी कथा तथा यजुर्वेद के एक मन्त्र को मौलाना ने एक ही स्थान पर आक्षेप का आधार बनाया है, अतः उस वेद-मन्त्र की व्याख्या भी हम यहाँ किये देते हैं- "श्री और लक्ष्मी, (अर्थात् इहलोक तथा परलोक का अलभ्य पदार्थ) (अथवा शारीरिक तथा आत्मिक वैभव) उसकी पत्नियाँ हैं।" (यजु० ३१)

संस्कृत तो क्या, किसी भी भाषा का थोड़ा-सा ज्ञान रखनेवाले लोग भी यह जानते हैं कि इस आलंकारिक वर्णन का क्या अभिप्राय है। क्या उर्दू भाषा में श्री परमेश्वर को इहलोक तथा परलोक का स्वामी (खावन्द व्यक्ति) नहीं कहा जाता? क्या सारा जगत् ईश्वर को अपना स्वामी नहीं मानता? पत्नी का स्वामी उसका पति होता है। संस्कृत-व्याकरण में पत्नी का अर्थ है- "जिस स्त्री के साथ मिलकर यज्ञ किया जाये।"

स्त्री-पुरुष के दो प्रकार के सम्बन्धों की संक्षिप्त व्याख्या हम ऊपर कर चुके हैं। यदि पाठक इस अन्तर को एक बार पुनः ध्यानाग्र कर लें, तो उन्हें 'पत्नी' शब्द के समझने में सुविधा होगी। वासना-पूर्ति विवाह का

लक्ष्य नहीं; जिस स्त्री से यह सम्बन्ध हो, उसे 'रखैल' कहा जाता है; परन्तु पत्नी उसे कहते हैं जिसके साथ मिलकर पति यज्ञ करता है। 'यज्ञ' हर एक धार्मिक कृत्य का नाम है, विशेष रूप से उन धार्मिक कर्तव्यों का, जिनका सम्बन्ध गृहस्थाश्रम से होता है, तथा ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, संन्यासी, इन सबकी सेवा-शुश्रूषा गृहस्थ का धर्म है। यह एक यज्ञ है। विद्वानों तथा बड़ों की देखभाल, हवन, बच्चों के संस्कार, यह सब कर्म-यज्ञ है। कोई गृहस्थ इन कर्तव्यों को अकेला नहीं कर सकता; इनमें पत्नी का होना आवश्यक है, और व्याकरण के अनुसार पत्नी उस स्त्री का नाम है जो इन कर्तव्यों की पूर्ति में सहायक हो। आलंकारिक वर्णन में, दोनों लोकों के सुख तथा आनन्द के संसार को अथवा शारीरिक तथा आत्मिक आनन्द के जगत् को परमेश्वर की गृहस्थी कहा गया है। परमेश्वर का यज्ञ इन सुखों को सम्मिलित किये बिना पूरा नहीं होता। हम सब परमेश्वर के पुत्र हैं। परमेश्वर हमारा दयालु पिता है, और इहलोक तथा परलोक का वैभव (श्री और लक्ष्मी) हमारी माता है। कितनी पवित्र कल्पना है! मौलाना लिखते हैं-

प्रश्न ७ - सम्भोग की वह वासना, जिसे वेद 'काम' कहता है, उपनिषद् उसको दया कहते हैं। दोनों शब्दों के अर्थ उस वासना में हैं, जो स्त्री-पुरुष के सम्भोग की है। (निरुक्त अ. १२२ सं. १३) इस पर मजा यह कि ईश्वर जी की इस वासना-पूर्ति का साधन वेदों में उसकी दो पत्नियाँ श्री और लक्ष्मी (यजु. ३१-२२) भी विद्यमान हैं। और सबसे विचित्र बात तो यह है कि ईश्वर जी के स्त्री-सम्भोग से कुल जानदारों के जोड़े पैदा होने का वर्णन बृहदारण्यका (बृहदारण्यक; मौलाना ने अशुद्ध ही लिखा है) और दूसरे प्रामाणिक उपनिषदों में पाया जाता है। तो स्वामी जी के इस व्यर्थ आरोप को आर्यसमाज पर क्यों न लगा दिया जावे (जो उन्होंने इस्लाम पर लगाया) कि इनका खुदा स्त्रियों में मस्त रहता है?

-हमने ऊपर बृहदारण्यक तथा यजुर्वेद दोनों के प्रमाण देकर उनकी व्याख्या कर दी है। बृहदारण्यक में स्त्री-पुरुष के दो शरीर तथा एक आत्मा का सुन्दर रूप से वर्णन आता है, और बताया है कि उनके इस सम्बन्ध से सब जानदारों के जोड़े उत्पन्न हुए। यही वास्तविकता कुछ परिवर्तन के साथ कुरआन में कही गई है। कुरआन में एक ही नफ़स, अर्थात् जीवन (आत्मा) से स्त्री-पुरुषों की उत्पत्ति का स्पष्ट वर्णन है। आत्मा अकेला रहते हुए उपनिषद् के आलंकारिक वर्णन के अनुसार प्रसन्न न था। मौलाना का अनुवाद भी यह है (पृष्ठ ११६)। संस्कृत भाषा में रम् धातु के अर्थ हैं प्रसन्न होना। बच्चों की क्रीड़ा को भी 'रमन' करना कहते हैं, अपितु इसीलिए पत्नी से अन्तर स्पष्ट करने के लिए रखैल को रामा कहा जाता है, परन्तु रमन का अर्थ सम्भोग-वासना करना मौलाना की अपनी मनमानी है जिसका भार उपनिषद् की पवित्र भाषा न उठा सकेगी। उपनिषद् में 'नैव रेमे' का अर्थ है 'प्रसन्न नहीं था'। मौलाना ने भी स्वयं लिखा है- 'उसका मन न लगता था। वह (आत्मा) उदास था।' फिर यजुर्वेद में तो श्री तथा लक्ष्मी को रामा नहीं, पत्नी कहा है! परन्तु मौलाना ने इस स्पष्ट वर्णन का भी ध्यान नहीं रखा। जैसा हम ऊपर लिख चुके हैं कि पत्नी शब्द के

व्याकरणानुसार अर्थों से भी रखल से उसका अन्तर स्पष्ट है। मौलाना ने प्रथम तो वेद का शब्द 'काम' लेकर कामाचार से अपने अर्थ ऊपर लगा दिये, पुनः राम जो एक निर्दोष शब्द है, रमा बना दिया, जिसके संस्कृत में कुछ अर्थ ही नहीं। फिर रमा और पत्नी के अन्तर को ही आप भूल गये, और इस प्रकार एक सुन्दर आलंकारिक वर्णन पर एक विचित्र रंग चढ़ गया, क्या इससे कोई इस्लाम की सेवा हुई?

वेद और उपनिषद् तो इस प्रकार के दोषों से सर्वथा रहित हैं, परन्तु यदि इस प्रकार की काल्पनिक तथा अशुद्ध व्याख्या से स्वयं इस्लाम का अपमान हो, तो कोई क्या करे?

रही ऋषि दयानन्द के इस्लाम पर किये आक्षेप की बात, उसका उत्तर किसी अगले अध्याय में दिया जावेगा जो कुरआन के बहिश्त से सम्बन्धित होगा। कुरआन की हूँ (अप्सराएँ) क्या है? इस कुरआन के ही शब्दों में कहा जावेगा। कठिनाई यह है कि वे (हूँ) इस समय भी विद्यमान हैं, तभी तो गालिब (उर्दू कवि) ने कहा है-

जिसमें लाखों बरस की हूँ हों, ऐसी जन्नत को क्या करे कोई?

प्रलयकाल से पूर्व तक वे (बेचारी) वहाँ बैठी हैं। किस शुभ कार्य के फलस्वरूप? यह एक प्रश्न है जिसका उत्तर मौलाना को देना चाहिये था, परन्तु मौलाना तो दूसरी ओर चल पड़े।

मौलाना के प्रश्न का उत्तर तो हमने ऊपर निवेदन कर दिया, परन्तु पुस्तक के अन्त में मौलाना की दयालु दृष्टि एक और शब्द में उलझी है, वह शब्द है 'राग' मौलाना लिखते हैं- "स्वयं स्वामी दयानन्द जी ने सत्यार्थप्रकाश के नवम समुल्लास में वाक्य सं. १७ में, मुक्ति-काल में, आत्मा में राग (काम-वासना) का होना स्वीकार किया है। यद्यपि उर्दू-अनुवाद में इसका अर्थ मुहब्बत (प्रेम) कर दिया है, परन्तु इसी समुल्लास के वाक्य सं. २७ में, राग में, राग को क्लेश मानकर त्यागने की बात कही है (पृष्ठ १२०)।"

- संस्कृत में राग का अर्थ रूचि है। परन्तु मौलाना हैं कि उन्हें प्रत्येक शब्द में एक ही अर्थ सूझता है। रूचि (राग) आत्मा का स्वाभाविक गुण है (इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-सुख-दुःख-न्यायदर्शन); इस शक्ति का अच्छा या बुरा होना, इसके अच्छे या बुरे प्रयोग पर निर्भर है। योगदर्शन में मन की एकाग्रता के सम्बन्ध में कहा है कि योगी राग तथा द्वेष से छुटकारा पावे, अर्थात् घृणा तथा मोह से बचे। सुख की लालसा न रखे तथा दुःखों से व्याकुल न हो। सुख में अहंकार न करे तथा दुःख से घबराये नहीं। यह अहंकार तथा विह्वलता योग-मार्ग में बाधक हैं। व्यर्थ के मोह, अथवा अनुचित घृणा के त्याग की प्रेरणा दी गई है। इससे अभीष्ट यह है कि मनुष्य का मन व्यर्थ की भावनाओं के बहाव से बच कर एकाग्र हो सके। इस प्रकार के अभ्यास का यह अभिप्राय सर्वथा नहीं कि मनुष्य राग की शक्ति को ही खो दे। वह तो खोई जा ही नहीं सकती। मोक्षावस्था में भी वह साथ रहती है, परन्तु तब उसका प्रयोग ईश्वर के भजन अथवा अन्य पवित्र कार्यों में होता है।

(वैदिक स्वर्ग से साभार)

चाणक्यनीति

विमर्श- प्रेम के बन्धन में फँसकर भौरा अपने जीवन से हाथ धो बैठता है। एक कवि ने भौर की मनोदशा का चित्रण यून किया है-

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं

भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः।

इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे

हा हन्त! हन्त! नलिनीं गज उज्जहार ॥

सायंकाल मंदी हुई कमलिनी के भीतर बैठा हुआ एक भौरा इस प्रकार सोच रहा था- 'रात्रि व्यतीत होगी, सुन्दर प्रभात होगा, सूर्योदय होगा और कमल खिल उठेगा, तब मैं यहां से मुक्त हो जाऊँगा' - हा हन्त! दुःख है इस चिन्तन में एक हाथी ने उस कमल को उखाड़कर फेंक दिया।

हे मानव ! प्रेम कर परन्तु मोह में मत फँस। मोह में फँसकर तू भी नष्ट हो जाएगा।

छिन्नोऽपि चन्दनतरुर्न जहाति गन्धं

वृद्धोऽपि वारणपतिर्न जहाति लीलाम्।

यन्त्रर्पितो मधुरतां न जहाति चेक्षुः

क्षीणोऽपि न त्यजति शीलगुणान् कुलीनः ॥१८॥

इति पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

शब्दार्थ-छिन्नः कटा हुआ अपि भी चन्दन-तरुः चन्दन का वृक्ष गन्धम् अपनी सुगन्ध को न जहाति नहीं छोड़ता, वृद्धः बूढ़ा अपि भी वारणपतिः गजरा लीलाम् विलास-लीला (काम-क्रीड़ा) को न जहाति नहीं छोड़ता च और इक्षुः ईख यन्त्र-अपितः कोल्हू में पेरे जाने पर भी मधुरताम् अपने माधुर्य को न जहातिन नहीं छोड़ती, इसी प्रकार कुलीनः कुलीन मनुष्य क्षीणः धनहीन, दरिद्र होने पर अपि भी शीलगुणान् दया, दक्षिण्य (चतुरता) आदि गुणों को न त्यजति नहीं छोड़ता।

भावार्थ- कट जाने पर भी चन्दन का वृक्ष अपनी सुगन्ध को नहीं छोड़ता, बूढ़ा होने पर भी गजराज अपनी काम-क्रीड़ाओं को नहीं छोड़ता, कोल्हू में पेरे पर भी ईख अपनी मिठास को नहीं छोड़ती, इसी प्रकार कुलीन मनुष्य धनहीन होने पर भी अपनी सुशीलता को नहीं छोड़ता।

विमर्श - इसी भाव से मिलते-जुलते एक अन्य श्लोक का रसा-स्वादन कीजिए-

घृष्टं घृष्टं पुनरपि पुनश्चन्दनं चारुगन्धम्

छिन्नं छिन्नं पुनरपि पुनः स्वादु चैवेक्षुकाण्डम्।

दग्धं दग्धं पुनरपि पुनः काश्चनं कान्तवर्णं

प्राणान्तेऽपि प्रकृतिविकृतिर्जायते नोत्तमानाम् ॥

चन्दन को जितना घिसा जाता है; वह उतना ही अधिक सुगन्ध देता है, गन्ने को जितना ही काटते या चूसते जाओ वह और अधिक मिठास देता है, तथा स्वर्ण को जितना-जितना तपाया जाए उतना ही अधिक चमकता है, ठीक इसी प्रकार उत्तम पुरुषों का चाहे प्राणान्त भी क्यों न हो जाए, उनके स्वभाव में कोई अन्तर नहीं आता।

आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च।

पञ्चैतानि हि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः ॥१॥

शब्दार्थ-आयुः आयु (गर्भ अथवा जन्म से लेकर मृत्यु के मध्य की अवधि) **च** तथा **कर्म** कर्म **च** और **वित्तम्** धन, **विद्या** विद्या **च** और **निधनम्** मृत्यु **एव** भी- **एतानि** ये पञ्च पाँच बातें **देहिनः** शरीरधारी जीव के **गर्भस्थस्य** गर्भ में स्थित होने के समय **एव** ही **सृज्यन्ते** रच जाती है, निश्चित हो जाती हैं।

भावार्थ - जीव जब गर्भ में होता है, उसी समय उसकी आयु, कर्म, धन, विद्या और मृत्यु- ये पाँच बातें निश्चित हो जाती हैं।

विमर्श- पूर्वजन्म के कर्मों का फल निश्चितरूपेण मिलता है। महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं-

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ - यो. द. २।१३

अविद्या आदि पञ्चक्लेशरूप मूल के विद्यमान रहने तक उसका फल जाति=पशु-पक्षी, मनुष्य आदि, आयु=जीवन-अवधि और भोगा= सुख-दुःख का चक्र चलता रहता है। इन तीनों में जाति निश्चित है, इसे बदलना असम्भव है। शेष आयु और भोग को पुरुषार्थ से बदला जा सकता है।

आयु- कालमृत्यु भी होती है और अकाल भी-

एकोत्तरं मृत्युशतमथर्वाणः प्रचक्षते ।

तत्रकः कालसंज्ञस्तु शेषा आगन्तवाः स्मृताः ॥ सुश्रुत

अथर्ववेद वेत्ताओं का कहना है कि मनुष्य के जीवन में एक-सौ एक बार मृत्यु होने के योग आते हैं, उनमें एक कालमृत्यु और शेष अकाल-मृत्यु होती है।

वैद्यकशास्त्र अपमृत्यु=अकालमृत्यु को सिद्ध करता है, यदि अप-मृत्यु न होती तो वैद्यकशास्त्र की कोई आवश्यकता नहीं होती।

शुद्ध खान-पान, सदाचार आदि से आयु बढ़ सकती है और अशुद्ध खान-पान, रहन-सहन तथा दुराचार से आयु घटती है।

कर्म- यदि कर्म निश्चित हैं कि यह व्यक्ति 'ऐसे ऐसे ही कर्म करेगा' तो फिर सारे शास्त्र और उपदेश व्यर्थ हो जाएँगे। कर्म निश्चित हैं तो जीव को पाप या पुण्य कर्मों का फल भी नहीं मिलना चाहिए, क्योंकि जीवन ने कर्म अपनी इच्छा से न करके परवशता से किये हैं।

धन- यदि धन की उपलब्धि भी निश्चित है तब व्यापार, नौकरी और पुरुषार्थ करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती, जो भाग्य में होगा मिल जाएगा।

विद्या - विद्या निश्चित है तो सारे विद्यालय, महाविद्यालय और विश्वविद्यालय बन्द करा देने चाहिए। पढ़ने-लिखने की कोई आवश्यकता नहीं, स्वयं ही सूझ उठेगा ज्ञानी।

मृत्यु का विवेचन आयु के साथ ही हो गया।

मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं निर्माता और विधाता है। मनुष्य अपने पुरुषार्थ से ही धन और विद्या प्राप्त करता है।

साधुम्यस्ते निवर्तन्ते पुत्रा मित्राणि बान्धवाः।

ये च तैः सह गन्तारस्तद्धर्मात्सुकृतं कुलम् ॥२॥

शब्दार्थ - **पुत्राः** पुत्र, **मित्राणि** मित्र और **बान्धवाः** बन्ध-बान्धवा- ते ये सब **साधुभ्यः** साधुओं से **निवर्तन्ते** निवृत्त=विमुख हो जाते हैं **च** परन्तु **ये** जो **तैः** जो तैः सह उन साधुओं के साथ **गन्तारः** गमन करते हैं, उनका सत्सङ्ग करते हैं, उनके अनुकूल आचरण करते हैं **तत्** धर्मात् उस पुण्य से **कुलम्** उनका सारा कुल, परिवार **सुकृतम्** सुकृति बन जाता है।

भावार्थ - पुत्र, मित्र और बन्धुगण साधुओं से विमुख रहते हैं परन्तु जो लोग साधुओं के अनुकूल चलते हैं, उनके उस पुण्य से उनका सम्पूर्ण कुल कृतकृत्य हो जाता है।

दर्शनध्यानसंस्पर्शमत्सी कूर्मी च पक्षिणी ।

शिंशुं पालयते नित्यं तथा सज्जनसंगतिः ॥३॥

शब्दार्थ- **मत्सी** मछली **कूर्मी** कछवी **च** और **पक्षिणी** मादा पक्षी, चिड़िया आदि जैसे क्रमशः **दर्शन**-**ध्यान** **संस्पर्शः** दर्शन, ध्यान और स्पर्श से **शिंशूम्** अपने-अपने बच्चे को **नित्यम्** सदा **पालयते** पालती हैं **तथा** उसी प्रकार **सज्जनसंगतिः** श्रेष्ठ पुरुषों की संगति भी मनुष्यों का पालन करती है, उनका भला करती है।

भावार्थ - जैसे मछली दर्शन से, कछवी ध्यान से और पक्षिणी स्पर्श से अपने-अपने बच्चों का सदा पालन-पोषण करती है, ऐसे ही श्रेष्ठ पुरुषों की संगति मनुष्यों का पालन-पोषण करती है।

विमर्श - सत्सङ्ग की महिमा का वर्णन करते हुए भर्तृ हरिजी ने ठीक ही कहा है-

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति सत्यं,

मानोन्नतिं दशति पापमपाकरोति ।

चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं,

सत्संगति कथय किं न करोति पुंसाम् ॥

- नीति. २२

सत्सङ्गति बुद्धि की मन्दता को दूर करती है, वाणी में सत्य को सींचती है, सम्मान को बढ़ाती और उच्चावस्था प्रदान करती है, पाप को दूर करती है, चित्त को आह्लादित करती है और चहुँ दिशाओं में किर्ति फैलाती है। भला बताओ, वह कौन-सी भलाई है जो सज्जनों की संगति से प्राप्त नहीं होती।

यावत्स्वस्थो ह्ययं देहो यावन्मृत्युश्च दूरतः।

तावदात्महितं कुर्यात् प्राणान्ते किं करिष्यति ॥४॥

शब्दार्थ-**यावत्** जबतक **हि** तो **अयम्** यह **देहः** शरीर **स्वस्थः** स्वस्थ, नीरोग है **च** और **यावत्** जबतक **मृत्युः** मौत **दूरतः** दूर है **तावत्** तबतक **आत्महितम्** आत्मा का कल्याण, धर्माचरण, पुण्यकर्म **कुर्यात्** कर लेने चाहिए, **प्राणान्ते** मृत्यु हो जाने पर **किम्** क्या **करिष्यति** करेगा अर्थात् कुछ नहीं कर सकेगा।

कार्तिक २०७१ (२०१५)

Post Date : 25-11-2015

MH/MR/N/136/MBI/-13-15

MAHRIL 06007/31/12/2015-TC

पोष आ सांताक्रुज (प.)

आर्य समाज सांताक्रुज मुम्बई का मुखपत्र

संपादक : संगीत आर्य

मुद्रक एवं प्रकाशक : चन्द्रपाल गुप्त द्वारा कृष्ण प्रिंटिंग प्रेस,
२६, मंगलदास रोड, मुम्बई-२. से मुद्रित कराकर आर्य समाज भवन,
वी. पी. रोड, (लिंगिंग रोड), सांताक्रुज (प.) मुम्बई-४०० ०५४.
से प्रकाशित किया। दूरभाष : २६६० २८००/२६६०२०७५

प्रति,

भावार्थ - जबतक शरीर नीरोग है और मृत्यु दूर है, तभी तक अपने आत्मकल्याण का उपाय कर लेना चाहिए, क्योंकि मृत्यु हो जाने पर कोई कुछ नहीं कर सकता।

विमर्श - यही बात भर्तृ हरिजी ने कुछ विस्तार से कही है-

यावत्स्वस्थमिदं शरीरमरुजं यावज्जरा दूरतो,
यावच्चेन्द्रियशक्ति प्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्,
सन्दीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः ॥

- भर्तृ हरि वैरा. ७६

जब तक शरीर स्वस्थ और रोगरहित है, जब तक वृद्धावस्था दूर है, जब तक सभी इन्द्रियों की शक्ति भरपूर है, जब तक प्राणशक्ति क्षीण नहीं हुई है- तभीतक बुद्धिमान् को चाहिए कि अपने आत्म-कल्याण के लिए महान् प्रयत्न करे, अन्यथा घर में आग लग जाने पर कुआँ खोदने से क्या लाभ होगा ?

आत्मकल्याण के लिए क्या करें? उत्तर प्रस्तुत है-

कुरु पुण्यमहोरात्रं स्मर नित्यं महेश्वरम् ।

त्यज दुर्जनसंसर्गं भज साधुसमागमम् ॥

दिन-रात पुण्यकर्म करो, परमेश्वर का स्मरण करो, दुर्जनों का संग त्यागो और साधुओं = सज्जनों का सत्सङ्ग करो।

परन्तु स्थिति यह है-

व्याघ्रीव तिष्ठति जरा परितर्जयन्ती,
रोगाश्च शत्रव इव प्रहरन्ति गात्रम् ।
आयुः परिस्त्रवति भिन्नघटादिवाम्भो,
लोको न चात्महितमाचरतीति चित्रम् ॥

- चाणक्य राजनीतिशा. ४/२४

वृद्धावस्था भयंकर बाधिनी के समान भयभीत करती हुई सामने खड़ी है, रोग शत्रुओं की भाँति शरीर पर आक्रमण कर रहे हैं। जैसे फूटे घड़े से पानी रिसता है, उसी प्रकार आयु भी क्षीण होती जा रही है, अहो! फिर भी मनुष्य अपने आत्मकल्याण के साधन नहीं जुटाते, आश्चर्य! महान् आश्चर्य!!

कामधेनुगुणा विद्या ह्यकाले फलदायिनी ।

प्रवासे मातृसदृशी विद्या गुप्तं धनं स्मृतम् ॥५॥

शब्दार्थ - विद्या विद्या कामधेनुगुणा= कामधेनु के समानगुण

वाली है, हि क्योंकि यह अकाले बिना समय के भी फलदायिनी फल देनेवाली है। यह विद्या प्रवासे प्रवास में, विदेश में मातृसदृशी माता के समान हित और रक्षा करनेवाली है, इसलिए विद्या विद्या को गुप्तम् छिपा हुआ धनम् धन स्मृतम् कहा गया है।

भावार्थ- विद्या में कामधेनु के समान रक्षक और हितकारिणी होती है, इसलिए विद्या को गुप्त=छिपा हुआ धन कहा गया है।

विमर्श- विद्या सचमुच कामधेनु है-

मातेव रक्षति पितेव हिते नियुङ्क्ते,
कान्तेव चाभिरमयत्यपनीय खेदम्।
कीर्तिं च दिक्षु वितनोति ददाति लक्ष्मीं,
किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या ॥

विद्या माता के समान रक्षा करती है, पिता के समान हितकार्यों में नियुक्त करती है, दुःख दूर करके पत्नी के समान आनन्द प्रदान करती है, चहुँ दिशाओं में कीर्ति को फैलाती है, धन की प्राप्ति कराती है। कल्पवृक्ष की भाँति विद्या क्या नहीं देती? सभी कुछ तो प्रदान करती है।

अपूर्वः कोऽपि कोशोऽयं विद्यते तव भारति ।

व्ययतो वृद्धिमायाति क्षयमायाति सञ्चयात् ॥

हे विद्या देवि ! तेरा कोश बड़ा विचित्र है, जितना-जितना खर्च करो उतना-उतना ही यह बढ़ता जाता है, परन्तु संग्रह करने से यह क्षय हो जाता है, घट जाता है।

वरमेको गुणी पुत्रो निर्गुणैश्च शतैरपि ।

एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति न च चाराः सहस्रशः ॥६॥

शब्दार्थ- शतैः सैकड़ों अपि भी निर्गुणीः गुणरहित च और मूर्खों से एकः एक गुणी गुणवान् पुत्रः पुत्र वरम् श्रेष्ठ है, क्योंकि चन्द्रः चन्द्रमा एकः अकेला ही तमः अन्धकार का हन्ति नाश करता है च परन्तु सहस्रशः हजारों ताराः तारागण अन्धकार का नाश न नहीं करते, नहीं कर सकते।

भावार्थ - सैकड़ों गुणहीन पुत्रों की अपेक्षा एक भी गुणवान् पुत्र श्रेष्ठ है, क्योंकि चन्द्रमा ही अन्धकार का नाश करता है, हजारों तारे नहीं।

विमर्श - गुणी पुत्र तो सचमुच एक ही पर्याप्त है -

(चाणक्य नीति दर्पण से साभार)